



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका
अंक : 82 (संयुक्तांक)
जनवरी-मार्च, 2070
2014 ई0

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

सहायक सम्पादक

श्री सुरेशचन्द्र मिश्र

महावीर मन्दिर प्रकाशन
के लिए
प्रो. काशीनाथ मिश्र
द्वारा प्रकाशित
तथा

प्रकाश ऑफसेट, पटना में मुद्रित
अक्षर संयोजन
दिनकर कुमार

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,
पाणिनि-परिसर,
बुद्ध-मार्ग,
पटना-800001

दूरभाष – 0612-3223293

E-mail: mahavirmandir@gmail.com

मूल्य : पन्द्रह रुपये

धर्मायण

विषय - सूची

1. लक्ष्मीहृदयस्तोत्रम्	2
2. श्रीनारायणहृदयस्तोत्रम्	19
3. रघुवंश में दिव्यानुभूतियों की एक झलक	21
4. त्याग के प्रतीक- महात्मा भरत	30
5. समानोत्थानवादी संत कवि कबीर	34
6. स्वस्थ जीवनशैली अपनायें और नीरोग रहें	39
7. महाकाव्य-चिन्तन: आलोचक एवं रचनाकार के विचार	43
8. भारत में सौर उपासना की प्राचीनता	55
9. सूर्य के विभिन्न प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख	59
10. विस्मयकारी है स्वप्नों का संसार	60

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखक के हैं। इनसे सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है। हम प्रबुद्ध रचनाकारों की अप्रकाशित, मौलिक एवं शोधपरक रचनाओं का स्वागत करते हैं। रचनाकारों से निवेदन है कि सन्दर्भ-संकेत अवश्य दें।

लक्ष्मीहृदयस्तोत्रम्

नारायण हृदय एवं लक्ष्मीहृदय स्तोत्र अथर्वणरहस्य से उद्धृत माने गये हैं और परम्परा में इनके साथ-साथ पाठ का विधान कर एक विशिष्ट प्रकार के पुरश्चरण के द्वारा सुख-शान्ति एवं समृद्धि की बात कही गयी है। नारायणस्तोत्र के पाठ की विधि के क्रम में इस लक्ष्मीहृदय स्तोत्र का उल्लेख हुआ है और कहा गया है कि इसके साथ नारायणहृदय स्तोत्रमन्त्र भी सभी अभीष्ट फलों को देनेवाला है। नारायणहृदय के विना यदि लक्ष्मीहृदयस्तोत्र का पाठ करते हैं तो सभी किया हुआ निष्फल हो जाता है और लक्ष्मी क्रुद्ध हो जाती है। महावीर मन्दिर द्वारा प्रकाशित 'सत्यनारायणपूजाप्रकाश' में नारायणहृदय मन्त्र का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया गया है, जिसका पाठ भगवान् सत्यनारायण की पूजा में महावीर मन्दिर में होता रहा है।

लक्ष्मी की पूजा के क्रम में पाठ करने के लिए या अलग से लक्ष्मीनारायण की विशिष्ट उपासना के लिए लक्ष्मीहृदयस्तोत्र यहाँ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। साथ-साथ नारायणहृदय भी मूल रूप में एक पृष्ठ पर केवल पाठ के लिए प्रकाशित किया जा रहा है। जो भक्त नारायणहृदय का अनुवाद देखना चाहें, वे महावीर मन्दिर द्वारा प्रकाशित 'सत्यनारायणपूजाप्रकाश' में देख सकते हैं।

आचम्य, प्राणायाम्य। देशकालौ सङ्कीर्त्य 'श्रीलक्ष्मीनारायणप्रसादेन ममाऽभीष्टकामना-सिद्ध्यर्थम् अद्यप्रभृत्यमुकदिनपर्यन्तं सङ्करीकरण रीत्या सम्पुटीकरणरीत्या पुरश्चरणरीत्या सकृदा वर्तनपाठरीत्या वा लक्ष्मीनारायणहृदयजपाख्य कर्म करिष्ये' इति सङ्कल्प्य, न्यासादि कुर्यात्।

आचमन एवं प्राणायाम कर, स्थान एवं समय का उच्चारण कर "श्रीलक्ष्मी एवं नारायण की कृपा से अपनी कामना की सिद्धि के लिए आज से लेकर उस दिन तक लगातार पाठ की विधि से सम्पुट विधि से अथवा पुरश्चरण की विधि से एक बार या अनेक बार लक्ष्मीनारायण हृदय जप नामक कर्म मैं करूँगा"- ऐसा संकल्प कर न्यास आदि करें।

विनियोगः

अस्य श्रीमहालक्ष्मीहृदयस्तोत्रमन्त्रस्य भार्गव-ऋषिः, आद्यादि-श्रीमहालक्ष्मीदेवता, अनुष्टुबादि-नानाछन्दासि श्रीबीजम् हीं शक्तिः ऐं कीलकम् श्रीमहालक्ष्मीप्रसादसिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः।

इस महालक्ष्मीहृदयस्तोत्र मन्त्र के ऋषि भार्गव हैं; आद्या आदि श्री महालक्ष्मी देवता हैं अनुष्टुप् आदि अनेक छन्द हैं; बीज मन्त्र श्रीः हीं शक्ति है 'ऐं' कीलक मन्त्र है, श्री महालक्ष्मी की कृपा की सिद्धि के लिए जप में इसका विनियोग (प्रयोग) है।

ऋष्यादिन्यासः

ॐ भार्गवऋषये नमः, शिरसि। इस मन्त्र से अंगूठा एवं कनिष्ठा छोड़कर शेष तीन अंगुलियों से शिर का स्पर्श करें।

अनुष्टुबादि नानाछन्दोभ्यो नमो, मुखे। उक्त रीति से मुख का स्पर्श करें।

आद्यादि-श्रीमहालक्ष्म्यै देवतायै नमो, हृदये। हृदय का स्पर्श करें।

श्रीं बीजाय नमो गुह्ये। गुह्य प्रदेश का स्पर्श करें।

हीं शक्तये नमः, पादयोः। दोनों पैरों का स्पर्श करें।

ऐं कीलकाय नमः, सर्वाङ्गे। शरीर के सभी अंगों का स्पर्श करें।

करन्यासः

ॐ श्रीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ हीं तर्जनीभ्यां नमः।

ॐ ऐं मध्यमाभ्यां नमः।

ॐ श्रीं अनामिकाभ्यां नमः।

ॐ हीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

ॐ ऐं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादिन्यासः

ॐ श्रीं हृदयाय नमः।

ॐ हीं शिरसे स्वाहा।

ॐ ऐं शिखायै वषट्।

ॐ श्रीं कवचाय हुम्।

ॐ हीं नेत्रत्रयाय वौषट्।

ॐ ऐं अस्त्राय फट्।

दिग्बन्धः

‘ॐ श्रीं हीं ऐं’ इति दिग्बन्धः।

ध्यानम्

हस्तद्वयेन कमले धारयन्तीं स्वलीलया।

हारनूपुरसंयुक्तां लक्ष्मीं देवीं विचिन्तये॥

अपनी लीला के द्वारा दोनों हाथों में कमल धारण करनेवाली, हार और पायल से युक्त देवी लक्ष्मी का ध्यान करता हूँ।

इस प्रकार ध्यान कर मन-ही-मन उनकी पूजाकर प्रार्थना करें।

इति ध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूज्य,

शंख-चक्र-गदाहस्ते शुभ्रवर्णे सुवासिनि॥

मम देहि वरं लक्ष्मि! सर्वसिद्धिप्रदायिनि॥

शंख, चक्र एवं गदा धारण करनेवाली शुभ्रवर्ण एवं सुगन्धि से युक्त हे लक्ष्मी, आप सभी प्रकार की सिद्धि देने वाली हैं, मुझे वर प्रदान करें।

इति सम्प्रार्थ्य,

‘ॐ श्रीं ह्रीं ऐं महालक्ष्म्यै कमल धारिण्यै सिंहवाहिन्यै स्वाहा’।

इति मन्त्रं जप्त्वा पुनः पूर्ववद् हृदयादि-षडङ्गन्यासं कृत्वा स्तोत्रं पठेत्।

इसके बाद निम्नलिखित मन्त्र का जप करें ‘ॐ श्रीं ह्रीं ऐं महालक्ष्म्यै कमलधारिण्यै सिंहवाहिन्यै स्वाहा’। पुनः हृदयादि षडङ्गन्यास करें।

स्तोत्रम्

वन्दे लक्ष्मीं परशिवमयीं शुद्धजाम्बूनदाभां
तेजोरूपां कनकवसनां सर्वभूषोज्ज्वलाङ्गीम्।
बीजापूरं कनककलशं हेमपद्मं दधानाम्।
आद्यां शक्तिं सकलजननीं विष्णुवामाङ्गसंस्थाम्॥१॥

परम मङ्गलमयी, शुद्ध सोने के समान कान्तिवाली, तेजःस्वरूपा, सुनहले रंग का वस्त्र धारण करनेवाली, सभी प्रकार के आभूषणों से चमकते हुए अंगों वाली, कमल और स्वर्ण कलश धारण करनेवाली, सब की जननी, आद्या शक्ति, विष्णु के वाम भाग में गोद में बैठनेवाली लक्ष्मी की वंदना करता हूँ।

श्रीमत्सौभाग्य-जननीं स्तौमि लक्ष्मीं सनातनीम्।
सर्वकाम-फलावाप्ति-साधनैक-सुखावहाम्॥२॥

सुन्दर भाग्य उत्पन्न करनेवाली, अनादि काल से रहनेवाली, उस लक्ष्मी को प्रणाम करता हूँ, जो सभी प्रकार की कामनाओं का फल पाने का एक मात्र उपाय है और सुख देनेवाली हैं।

स्मरामि नित्यं देवेशि! त्वया प्रेरितमानसः।

त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि परमेश्वरीम्॥३॥

हे देवों की भी देवी, आपने ही हमें इस ओर प्रेरित किया, आप की ही आज्ञा सर माथे पर रखकर हमेशा आपका स्मरण करता हूँ और परम देवी को भजता हूँ।

समस्त-सम्पत्-सुखदां महाश्रियं समस्त-सौभाग्यकरीं महाश्रियम्।

समस्त-कल्याणकारीं महाश्रियं भजाम्यहं ज्ञानकारीं महाश्रियम्॥४॥

सभी प्रकार की सम्पत्ति और सुख देनेवाली, सभी प्रकार के सौभाग्य प्रदान करनेवाली, सभी प्रकार का कल्याण करनेवाली तथा ज्ञान उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी को मैं भजता हूँ॥४॥

विज्ञानसम्पत्सुखदां सनातनीं विचित्र-वाग्भूतिकरीं मनोहराम्।

अनन्त-सम्पद-सुखप्रदायिनीं नमाम्यहं भूतिकरीं हरिप्रियाम्॥५॥

विज्ञान, सम्पत्ति एवं सुख देनेवाली, वाणी सम्बन्धी अद्भुत ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली, सनातनी, मन को लुभानेवाली, जिनके द्वारा दिये गये हर्ष और सुख कभी नष्ट नहीं होते ऐसी ऐश्वर्य देनेवाली तथा विष्णु की प्रिया लक्ष्मी को प्रणाम करता हूँ॥५॥

समस्त-भूतान्तर-संस्थिता त्वं समस्त-भोक्त्रीश्वरि! विश्वरूपे!।

तन्नास्ति यत्त्वद्व्यरिक्तवस्तु त्वत्पादपद्मं प्रणमाम्यहं श्रीः॥६॥

हे लक्ष्मी, आप सभी प्राणियों के भीतर निवास करती हैं, सभी प्रकार का भोग करनेवाली हैं, ईश्वरी हैं, और समस्त जगत आपका ही स्वरूप है। आपसे भिन्न कोई वस्तु इस संसार में नहीं है। हे लक्ष्मी, तुम्हारे चरण-कमलों में प्रणाम करता हूँ॥६॥

दारिद्र्य-दुःखौघ-तमोपहन्त्रि! त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व।

दीनार्तिविच्छेदन-हेतुभूतैः कृपाकटाक्षैरभिषिञ्च मां श्रीः॥७॥

दरिद्रता, दुःखों के समूह और अन्धकार का नाश करनेवाली हे लक्ष्मी, अपना चरण-कमल मेरी ओर बढ़ावें। दीनता और दुःख को उखाड़ फेंकनेवाली अपनी कृपा दृष्टि से मुझे नहलावें॥७॥

अम्ब! प्रसीद करुणा-सुधयाऽऽर्द्रदृष्ट्या

मां त्वत्कृपाद्रविणगेहमिमं कुरुष्व।

आलोकय प्रणतहृद्गतशोकहन्त्रि!

त्वत्पादपद्मयुगलं प्रणमाम्यहं श्रीः॥८॥

हे माता, अपनी करुणा रूपी अमृत-धारा सी भीगी हुई नजर से मेरे ऊपर प्रसन्न हों। इस घर को अपनी कृपा रूपी सम्पत्ति से भर दो और उसे चमका दो। विनती करने वालों के हृदय में स्थित शोक को मार भगाने वाली हे लक्ष्मी आपके दोनों चरण-कमलों को मैं प्रणाम करता हूँ॥८॥

शान्त्यै नमोऽस्तु शरणागतरक्षणाय

कान्त्यै नमोऽस्तु कमनीयगुणाश्रयायै।

क्षान्त्यै नमोऽस्तु दुरितक्षयकारणायै

धात्र्यै नमोऽस्तु धनधान्यसमृद्धिदायै॥९॥

शरण में आये हुए प्राणियों की रक्षा करनेवाली शान्तिरूपिणी, सुन्दर गुणों का आधारस्वरूपा कान्तिरूपिणी, पापों का नाश करनेवाली शान्तिरूपिणी और धन, धान्य तथा समृद्धि देनेवाली पोषण करनेवाली माता के रूप में लक्ष्मी को प्रणाम करता हूँ॥९॥

शक्त्यै नमोऽस्तु शशिशेखरसंस्तुतायै

रत्यै नमोऽस्तु रजनीकरसोदरायै।

भक्त्यै नमोऽस्तु भवसागरतारिकायै

मत्यै नमोऽस्तु मधुसूदनवल्लभायै॥१०॥

भगवान् शिव भी जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी शक्ति को, चन्द्रमा की सोदर बहन रति के स्वरूप में लक्ष्मी को संसार रूपी सागर को पार लगाने वाली भक्ति रूपा लक्ष्मी को तथा भगवान् विष्णु की प्रिया के रूप में मति रूपा लक्ष्मी को प्रणाम है॥१०॥

लक्ष्म्यै नमोऽस्तु शुभलक्षणलक्षितायै

सिद्ध्यै नमोऽस्तु शिवसिद्धसुपूजितायै।

धृत्यै नमोऽस्त्वमितदुर्गतिभञ्जनायै

गत्यै नमोऽस्तु वरसद्गतिदायिकायै॥११॥

शुभ लक्षणों से पहचानी जानेवाली 'लक्ष्मी' को शिव और सिद्धों द्वारा पूजित 'सिद्धि' को असीम दुर्गति को नाश करनेवाली 'धृति' को और वर एवं उत्तम गति देनेवाली 'गति' को प्रणाम करता हूँ॥११॥

दैव्यै नमोऽस्तु दिवि देवगणार्चितायै
भूत्यै नमोऽस्तु भुवनातिविनाशानायै।
दात्र्यै नमोऽस्तु धरणीधरवल्लभायै
पुष्ट्यै नमोऽस्तु पुरुषोत्तमवल्लभायै॥१२॥

स्वर्ग में देवताओं द्वारा पूजित देवी को प्रणाम। तीनों लोकों के दुःखों का विनाश करनेवाली 'भूति' देवी को प्रणाम। पृथ्वी का भार उठानेवाली विष्णु की प्रिया दात्री देवी को प्रणाम। पुरुषोत्तम विष्णु की प्रिया 'पुष्टि' देवी को प्रणाम॥१२॥

सुतीव्र-दारिद्र्य-विदुःखहन्त्र्यै नमोऽस्तु ते सर्वभयापहन्त्र्यै।
श्रीविष्णु-वक्षःस्थल-संस्थितायै नमो नमः सर्वविभूतिदायै॥१३॥

तीव्र दरिद्रता और विशेष प्रकार के दुःखों तथा भय का नाश करनेवाली हे देवी आपको प्रणाम। श्रीविष्णु के वक्षःस्थल पर अवस्थित रहनेवाली तथा सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली देवी को प्रणाम॥१३॥

जयतु जयतु लक्ष्मीर्लक्षणालङ्कृताङ्गी
जयतु जयतु पद्मा पद्मसद्भाभिवन्द्या।
जयतु जयतु विद्या विष्णुवामाङ्गसंस्था
जयतु जयतु सम्यक् सर्वसम्पत्करी श्रीः॥१४॥

उत्तम चिह्नों से शोभित अंगों वाली लक्ष्मी की जय हो। कमल में निवास करनेवाली तथा सबके द्वारा पूजित 'पद्मा' की जय हो। विष्णु की बायीं गोद में बैठनेवाली विद्या की जय हो। सभी प्रकार की सम्पत्ति देनेवाली श्री की जय हो॥१४॥

जयतु जयतु देवी देवसङ्गाभिपूज्या
जयतु जयतु भद्रा भार्गवी भाग्यरूपा।
जयतु जयतु नित्या निर्मलज्ञानवेद्या
जयतु जयतु सत्या सर्वभूतान्तरस्था॥१५॥

देवों के समूह से पूजित देवी की जय हो। भृगु की पुत्री और भाग्य की देवी भद्रा की जय हो। निर्मल ज्ञान द्वारा पहचानी जानेवाली देवी 'नित्या' की जय हो और सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में निवास करनेवाली देवी सत्या की जय हो।

जयतु जयतु रम्या रत्नगर्भान्तरस्था
जयतु जयतु शुद्धा शुद्धजाम्बूनदाभा।
जयतु जयतु कान्ता कान्तिमद्धासिताङ्गी
जयतु जयतु कान्ता शीघ्रमागच्छ सौम्ये!॥१६॥

पृथ्वी के अन्दर रहनेवाली देवी 'रम्या' की जय हो। शुद्ध जाम्बूनद के समान कान्तिवाली देवी 'शुद्धा' की जय हो। कान्तिमती और चमत्कार भरे अंगों वाली देवी कान्ता की जय हो। हे सौम्य मूर्तिवाली शीघ्र मेरे पास आवें॥16॥

यस्याः कलाद्याः कमलोद्भवाद्याः रुद्राश्च शक्रप्रमुखाश्च देवाः।

जीवन्ति सर्वा अपि शक्तयस्ताः प्रभुत्वमाप्ताः परमायुषस्ते॥१७॥

जिसकी कृपा से कला आदि देवियाँ, ब्रह्मा आदि देव, एकादश रुद्र एवं इन्द्र आदि देवतागण और उनकी शक्तियाँ अस्तित्व में हैं, प्रभु कहलाते हैं और परम आयु पाते हैं॥17॥

लिलेख नितिले विधिर्मम लिपिं विसृज्यान्तरं

त्वया विलिखितव्यमेतदिति तत्फलप्राप्तये।

तदन्तरफले स्फुटं कमलवासिनि श्रीरिमां

समर्पय समुद्रिकां समलभाग्यसंसूचिकाम्॥१८॥

विधाता ने मेरे ललाट पर दूसरी ही लिपि लिख दी है उसका फल पाने के लिए आपको लिखना है। हे कमल में निवास करनेवाली इसके फल में समुद्र से उत्पन्न रत्न समूह जिससे मलिन भाग्य सूचित होता है उसका त्याग करें॥18॥

कलया ये यथा देवी जीवन्ति सचराऽचराः।

तथा सम्पत्करी लक्ष्मीः सर्वदा सम्प्रसीद मे॥१९॥

हे देवी, जिस प्रकार आपकी कला से स्थावर और जङ्गम प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार सम्पत्ति प्रदान करनेवाली लक्ष्मी हमेशा मेरे ऊपर प्रसन्न हों॥19॥

यथा विष्णुर्ध्रुवो नित्यं स्वकलां सन्निवेशयत्।

तथैव स्वकलां लक्ष्मि! मयि सम्यक् समर्पय॥२०॥

जैसे अविचल विष्णु हमेशा अपनी कला स्थापित करते हैं उसी प्रकार हे लक्ष्मी अपनी कला मुझमें अर्पित करें॥20॥

सर्वसौख्यप्रदे देवि! भक्तानामभयप्रदे।

अचलां कुरु यत्नेन कलां मयि निवेशिताम्॥२१॥

सभी प्रकार का सुख देनेवाली, भक्तों को अभय देनेवाली हे लक्ष्मी! मुझमें स्थापित अपनी कला को यत्नपूर्वक अटल रखें॥21॥

मुदास्तां मद्भाले परमपदलक्ष्मीः स्फुटकला

सदा वैकुण्ठश्रीर्निवसतु कला मे नयनयोः।

वसेत् सत्ये लोके मम वचसि लक्ष्मीर्वरकला

श्रियः श्वेतद्वीपे निवसतु कला मेऽस्तु करयोः॥२२॥

मेरे ललाट पर परमपद स्वरूपा और खिली हुई कलावाली लक्ष्मी प्रसन्नतापूर्वक निवास करें। मेरी आँखों में वैकुण्ठ की लक्ष्मी निवास करें। सत्यलोक में रहनेवाली और वर प्रदान करनेवाली कला की लक्ष्मी मेरी वाणी में वास करें और श्वेत द्वीप में रहने वाली लक्ष्मी की कला मेरे दोनों हाथों में वास करें॥22॥

तावन्नित्यं ममाऽङ्गेषु क्षीराब्धौ श्रीकला वसेत्।

सूर्याचन्द्रमसौ यावद्यावल्लक्ष्मीपतिः श्रिया॥२३॥

क्षीर सागर में रहनेवाली लक्ष्मी की कला मेरे सभी अंगों में तबतक निवास करे जबतक सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे और जबतक लक्ष्मी के साथ विष्णु रहेंगे॥२३॥

सर्वमङ्गलसम्पूर्णा सर्वैश्वर्य-समन्विता।

आद्यादिश्रीमहालक्ष्मीस्त्वत्कला मयि तिष्ठतु॥२४॥

सभी प्रकार के मङ्गलों से परिपूर्ण, सभी ऐश्वर्यों से युक्त आद्या आदि महालक्ष्मी, आपकी कला मुझमें वास करे॥२४॥

अज्ञानतिमिरं हन्तुं शुद्धज्ञानप्रकाशिका।

सर्वैश्वर्यप्रदा मेऽस्तु त्वत्कला मयि संस्थिता॥२५॥

अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने के लिए शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करनेवाली, सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली आपकी कला मुझ में निवास करे॥२५॥

अलक्ष्मीं हरतु क्षिप्रं तमः सूर्यप्रभा यथा।

वितनोतु मम श्रेयस्त्वत्कला मयि संस्थिता॥२६॥

सूर्य का प्रकाश जिस प्रकार अन्धकार को दूर भगाता है उसी प्रकार लक्ष्मी मेरी दरिद्रता को दूर करें। मेरी उन्नति करें। हे लक्ष्मी आपकी कला मुझमें निवास करे॥२६॥

ऐश्वर्य-मंगलोत्पत्तिस्त्वत्कलायां निधीयते।

अहं तस्मात्कृतार्थोऽस्मि पात्रमध्यस्थिते त्वयि॥२७॥

ऐश्वर्य एवं मंगल आपकी कला में टिकी हुई है जबतक आप इस पात्र में हैं तब तक मैं उससे कृतार्थ हूँ॥२७॥

भवदावेश-भाग्योऽहं भाग्यवानस्मि भार्गवि।

त्वत्प्रसादात्पवित्रोऽहं लोकमातर्नमोऽस्तु ते॥२८॥

आपका आदेश ही मेरा सौभाग्य है। हे भृगु पुत्री इस प्रकार से मैं भाग्यवान् हूँ। आपकी कृपा से मैं पवित्र हूँ, हे तीनों लोको की माता, आपको प्रणाम॥२८॥

पुनासि मां त्वं कलयैव यस्मादतः समागच्छ ममाऽग्रतस्त्वम्।

परं पदं श्रीर्भव सुप्रसन्ना मय्यच्युतेन प्रविशादिलक्ष्मीः॥२९॥

हे आदि लक्ष्मी, चूँकि अपनी कला से आप मुझे पवित्र करती हैं अतः आप मेरे सामने आयें। हे लक्ष्मी, मेरे ऊपर प्रसन्न हों और भगवान् विष्णु के साथ मेरे पास आयें॥२९॥

श्रीवैकुण्ठस्थिते लक्ष्मीः समागच्छ ममाऽग्रतः।

नारायणेन सह मां कृपादृष्ट्या विलोकय॥३०॥

नारायण के साथ श्री वैकुण्ठ में रहनेवाली लक्ष्मी मुझे दर्शन दें और मेरे ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि डालें॥३०॥

सत्यलोकस्थिते लक्ष्मीस्त्वं ममाऽगच्छ सन्निधिम्।

वासुदेवेन सहिता प्रसीद वरदा भव॥३१॥

सत्यलोकस्थिते लक्ष्मीस्त्वं ममाऽगच्छ सन्निधिम्।
वासुदेवेन सहिता प्रसीद वरदा भव॥३१॥

वासुदेव के साथ सत्यलोक में रहनेवाली लक्ष्मी आप मुझे दर्शन दें, मेरे ऊपर प्रसन्न हों और वरदान दें॥31॥

श्वेतद्वीपस्थिते लक्ष्मीः शीघ्रमागच्छ सुव्रते।
विष्णुना सहिते देवि! जगन्मातः प्रसीद मे॥३२॥

हे सुव्रते, हे विष्णु के साथ श्वेतद्वीप में रहनेवाली लक्ष्मी, हे संसार की माता, आप प्रसन्न हों॥32॥

क्षीराम्बुधिस्थिते लक्ष्मीः समागच्छ स-माधवे।
त्वत्कृपादृष्टिसुधया सततं मां विलोकय॥३३॥

हे क्षीर सागर में निवास करनेवाली पवित्र लक्ष्मी, आप आयें और अपनी कृपा पूर्ण अमृत दृष्टि से मुझे हमेशा देखें॥33॥

रत्नगर्भस्थिते लक्ष्मि! परिपूर्णहिरण्मयि।
समागच्छ समागच्छ स्थित्वाऽऽशु पुरतो मम॥३४॥

हे रत्नों से भरे सागर में रहनेवाली लक्ष्मी, हे अलंकारों से अलंकृत लक्ष्मी, आप शीघ्र आयें, शीघ्र आयें और आकर अपना पवित्र दर्शन दें॥34॥

स्थिरा भव महालक्ष्मीर्निश्चला भव निर्मले।
प्रसन्ने कमले देवि! प्रसन्नहृदया भव॥३५॥

हे पवित्र लक्ष्मी, आप मेरे पास आकर बहुत काल तक स्थिर और निश्चल रहें। हे सदा प्रसन्न रहनेवाली लक्ष्मी, आप मेरे ऊपर भी प्रसन्न हृदय वाली हो जायें॥35॥

श्रीधरे! श्रीमहाभूते! त्वदन्तःस्थं महानिधिम्।
शीघ्रमुद्धृत्य पुरतः प्रदर्शय समर्पय॥३६॥

हे शोभामयी, हे महाभूते, आप में सारी निधियाँ भरी हैं। उन निधियों को आप शीघ्र निकाल कर मुझे दिखायें और मुझे प्रदान करें॥36॥

वसुन्धरे! श्रीवसुधे! वसुदोग्धि! कृपां मयि।
त्वत्कुक्षिगतसर्वस्वं शीघ्रं मे सम्प्रदर्शय॥३७॥

हे वसुओं को धारण करनेवाली वसुन्धरे, हे श्री वसुधे, हे वसुओं को देने वाली वसु दोग्धि, अपनी कृपा मुझे प्रदान करें। अपने गर्भगत समस्त रमणीय निधियाँ मुझे शीघ्र दिखायें॥37॥

विष्णुप्रिये! रत्नगर्भे! समस्तफलदे! शिवे।
त्वद्गर्भगतहेमादीन् सम्प्रदर्शय दर्शय॥३८॥

हे विष्णुप्रिये, हे रत्नगर्भे, हे सभी फलों को देनेवाली, हे कल्याणी, अपने गर्भ गत समस्त स्वर्णदिकों को भलीभाँति मुझे दिखायें, अवश्य दिखायें॥38॥

रसातलगते लक्ष्मीः शीघ्रमागच्छ मे पुरः।
न जाने परमं रूपं मातर्मे सम्प्रदर्शय॥३९॥

हे पातालवासिनी लक्ष्मी, आप शीघ्र मेरे आगे आयें। हे माता मैं आपके परम रूप को नहीं जानता हूँ, उसे दिखायें॥39॥

आविर्भव मनोवेगाच्छीघ्रमागच्छ मे पुरः।

मां वत्स! भैरिहेत्युक्त्वा कामं गौरिव रक्ष माम्॥४०॥

बहुत जल्द (मन के समान वेग से) आप प्रकट हों और मेरे आगे आयें। गौ जैसे अपने बछड़े की रक्षा करती है, उसी तरह तुम नहीं डरो" ऐसा कहकर आप भी मेरी भरपूर रक्षा करें।॥४०॥

देवि! शीघ्रं समागच्छ धरणीगर्भसंस्थिते।

मातस्त्वद्भृत्यभृत्योऽहं मृगये त्वां कुतूहलात्॥४१॥

हे पाताल वासिनी देवी, शीघ्र आयें। आपके दासों में मैं भी एक दास हूँ। बड़ी कुतूहलता से मैं आपको खोज रहा हूँ।॥४१॥

उत्तिष्ठ जागृहि त्वं मे समुत्तिष्ठ सुजागृहि।

अक्ष्यान् हेमकलशान् सुवर्णेन सुपूरितान्॥४२॥

निक्षेपानमे समाकृष्य समुद्धृत्य ममाऽग्रतः।

समुन्नतानना भूत्वा समाधेहि धरान्तरात्॥४३॥

आप जाग जायें माता और मेरी भी तन्द्रा दूर करे दें सोने से भरे हुए बड़े-बड़े स्वर्ण कलश पृथ्वी के गर्भ से लाकर मेरे आगे रख दें। मैं आपसे बड़े विनीत भाव में प्रार्थना करता हूँ।॥४२-४३॥

मत्सन्निधिं समागच्छ मदाहितकृपारसात्।

प्रसीद श्रेयसां दोग्धि! लक्ष्मीर्मे नयनाग्रतः॥४४॥

आप मेरे लिए कृपामयी होकर मेरे निकट आयें। हे कल्याण दायिनी देवी, लक्ष्मी, प्रसन्न हों और मेरी आँखों को तृप्त करें।॥४४॥

अत्रोपविश लक्ष्मीस्त्वं स्थिरा भव हिरण्मयि।

सुस्थिरा भव सम्प्रीत्या प्रसीद वरदा भव॥४५॥

हे शोभामयी लक्ष्मी, आप यहाँ आकर स्थिर होकर बैठें, प्रेम पूर्वक यहाँ टिकी रहें और प्रसन्न होकर वरदान दें।॥४५॥

आनीय त्वं तथा देवि! निधीन्मे सम्प्रदर्शय।

अद्य क्षणेन सहसा दत्त्वा संरक्ष मां सदा॥४६॥

हे देवी, आप अपना भण्डार लाकर मुझे दिखायें और इस क्षण ही अपना संरक्षण मुझे प्रदान करें।॥४६॥

मयि तिष्ठ तथा नित्यं यथेन्द्रादिषु तिष्ठसि।

अभयं कुरु मे देवि! महालक्ष्मीर्नमोऽस्तु ते॥४७॥

आप इन्द्रादिकों के यहाँ जैसे स्थिर भाव से रहती हैं मेरे पास भी उसी भाव से रहें। हे देवी, आप मुझे अभय कर दें। हे महालक्ष्मी, आपको प्रणाम है।॥४७॥

समागच्छ महालक्ष्मीः शुद्धजाम्बूनदप्रभे।

प्रसीद पुरतः स्थित्वा प्रणतं मां विलोकय॥४८॥

हे सोने के समान कान्ति वाली लक्ष्मी आयें, आप प्रसन्न हों और मुझ विनीत पर कृपा दृष्टि डालें।॥४८॥

लक्ष्मीर्भुवं गता भासि यत्र यत्र हिरण्मयी।
तत्र तत्र स्थिता त्वं मे तव रूपं प्रदर्शय॥४९॥

हे लक्ष्मी, पृथ्वी के गर्भ में जहाँ-जहाँ सुवर्ण पड़े हैं, वहाँ-वहाँ ठहर कर आप मुझे उसे दिखायें॥४९॥

क्रीडसे बहुधा भूमौ परिपूर्णा हिरण्मयी।
मम मूर्धनि ते हस्तमविलम्बितमर्पय॥५०॥

हे शोभा शालिनी, आपसे परिपूर्ण व्यक्ति पृथ्वी पर अनेक प्रकार से सदा खेलते रहते हैं। हे माता, मेरे माथे पर भी आप अपना वही हाथ शीघ्र रखें॥५०॥

फलभाग्योदये लक्ष्मीः समस्त-पुरवासिनि!
प्रसीद मे महालक्ष्मीः परिपूर्णमनोरथे! ५१॥

सुन्दर फल देनेवाली, भाग्य का उदय करनेवाली और सर्वत्र व्याप्त महालक्ष्मी, मेरे ऊपर प्रसन्न हों और मनोरथ को पूर्ण करें॥५१॥

अयोध्यादिषु सर्वेषु नगरेषु समास्थिते।
वैभवैर्विविधैर्युक्ता समागच्छ बलान्विते॥५२॥

अयोध्या आदि सभी नगरों में वास करनेवाली देवी, अनेक विभवों से युक्त अत्यन्त बलवती लक्ष्मी आयें॥५२॥

समागच्छ समागच्छ ममाग्रे भव सुस्थिरा।
करुणारस-निष्यन्द-नेत्रद्वय-विलासिनि॥५३॥

जिसकी सुन्दर दोनों आँखों से करुणा की धारा हमेशा बहती रहती है, ऐसी देवी, आयें, आयें और आकर मेरे आगे अचल हो ठहरें॥५३॥

संविधत्स्व महालक्ष्मीस्वत्पाणिं मम मस्तके।
करुणासुधया मां त्वमभिषिञ्च स्थिरीकुरु॥५४॥

हे महालक्ष्मी, आप अपने हाथ मेरे मस्तक पर रखें और अपने करुणामृत से सिञ्चित कर स्थिरता प्रदान करें॥५४॥

सर्वराजगृहे लक्ष्मोः समागच्छ मुदान्विते।
स्थित्वाऽऽशु पुरतो मेऽद्य प्रसादेनाऽभयं कुरु॥५५॥

हे सभी राजाओं के घर में विराजमान प्रसन्न लक्ष्मी आयें, शीघ्र आकर आगे ठहरें और अपने आशीर्वाद से मुझे अभय करें॥५५॥

सादरं मस्तके हस्तं मम त्वं कृपयाऽर्पय।
सर्वराजगृहे लक्ष्मीस्वत्कला मयि तिष्ठतु॥५६॥

कृपा पूर्वक अपने पूजनीय हाथ मेरे मस्तक पर रखें। हे सभी राजाओं के घर में विराजमान लक्ष्मी, आपकी कला मुझमें प्रतिस्थापित हो॥५६॥

आद्यादि-श्रीमहालक्ष्मीर्विष्णुवामाङ्कःसंस्थिते!।
प्रत्यक्षं कुरु से रूपं रक्ष मां शरणागतम्॥५७॥

हे विष्णु की वामाङ्गिनी आद्या आदि नामों से ख्यात महालक्ष्मी, मुझ शरण में आये हुए को अपना रूप दिखायें॥57॥

प्रसीद मे महालक्ष्मीः सुप्रसीद महाशिवे॥

अचला भव सम्प्रीत्या सुस्थिरा भव मदगृहे॥५८॥

हे महालक्ष्मी, हे महाशिवे, आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। मेरे ऊपर आपकी प्रीति अचल रहे और आप मेरे घर में स्थिर हो वास करें॥58॥

यावत्तिष्ठन्ति वेदाश्च यावत्त्वन्नाम तिष्ठति।

यावद्विष्णुश्च यावत्त्वं तावत्कुरु कृपां मयि॥५९॥

जबतक वेद हैं, जबतक आपका नाम है, जबतक विष्णु हैं और जबतक आप हैं। हे माता, तबतक आप मेरे ऊपर कृपा करें॥59॥

चान्द्री कला यथा शुक्ले वर्धते सा दिने दिने।

तथा दया ते मय्येव वर्धतामभिवर्धताम्॥६०॥

शुक्ल पक्ष की रात्री में चन्द्रमा की कला जैसे दिन प्रतिदिन बढ़ती रहती है, उसी तरह से आप की दया भी मेरे ऊपर क्रमशः बढ़ती रहे॥60॥

यथा वैकुण्ठनगरे यथा वै क्षीरसागरे।

यथा मद्भवने तिष्ठ स्थिरं श्रीविष्णुना सह॥६१॥

जैसे वैकुण्ठ नगर में और जैसे क्षीर सागर में विष्णु के साथ आप विराजमान हैं, मेरे घर में भी आप उसी तरह स्थिर हो विराजमान रहें॥61॥

योगिनां हृदये नित्यं यथा तिष्ठसि विष्णुना।

तथा मद्भवने तिष्ठ स्थिरं श्रीविष्णुना सह॥६२॥

योगियों के हृदय में आप जैसे विष्णु के साथ विराजमान हैं, मेरे भवन में भी आप उसी तरह विष्णु के साथ स्थिर हो विराजमान रहें॥62॥

नारायणस्य हृदये भवती यथाऽऽस्ते

नारायणोऽपि तव हृत्कमले यथाऽऽस्ते।

नारायणस्त्वमपि नित्यमुभौ तथैव

तौ तिष्ठतां हृदि ममाऽपि दयावति श्रीः॥६३॥

आप जैसे नारायण के हृदय में विराजमान हैं, आपके हृदय कमल में भी नारायण उसी तरह शोभायमान हैं। हे दयावती लक्ष्मी, उसी तरह आप दोनों मेरे हृदय में वास करें॥63॥

विज्ञानवृद्धिं हृदये कुरु श्रीः सौभाग्यवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः।

दयासु वृद्धिं कुरुतां मयि श्रीः सुवर्णवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः॥६४॥

हे लक्ष्मी, मेरे हृदय में आप विज्ञान और दया की वृद्धि करें। घर में सौभाग्य और सुवर्णादि की वृद्धि करें॥64॥

न मां त्यजेथाः श्रितकल्पवल्लि सद्भक्तचिन्तामणि-कामधेनो।

विश्वस्य मातर्भव सुप्रसन्ना गृहे कलत्रेषु च पुत्रवर्गे॥६५॥

हे माँ (लक्ष्मी) मैं आपका आश्रित हूँ, आपकी कल्पलता का सहारा है मुझे। मुझे मत छोड़ो माँ। हे माँ, आप सद् भक्त की चिन्ता को दूर करने के लिए चिन्तामणि के समान हैं, आप मनोवांछित फलों को देनेवाली कामधेनु हैं। हे संसार की माता, आप मेरे घर के पुत्र वर्ग और पत्नी पर प्रसन्न हों॥६५॥

आद्यादिमाये! त्वमजाण्डबीजं त्वमेव साकारनिराकृतिस्त्वम्।

त्वया धृताश्चाऽब्जभवाण्डसङ्घाश्चित्रं चरित्रं तव देवि! विष्णोः॥६६॥

हे पुरातनों में पुरातन माये आप ही अण्डज-पिण्डजादि रूप हैं। आप ही साकार और निराकार हैं। हे माते, आपने संसार के सारे जीवों को धारण कर रखा है। हे देवि, आपका चरित्र बड़ा ही विचित्र है॥६६॥

ब्रह्मरुद्रादयो देवा वेदाश्चापि न शक्नुयुः।

महिमानं तव स्तोतुं मन्दोऽहं शक्नुयां कथम्॥६७॥

हे देवि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं चारो वेद भी आपकी महिमा का गान नहीं कर सके, फिर मुझ मन्द-बुद्धि की क्या विसात जो आपकी महिमा गा सकूँ॥६७॥

अम्ब! त्वद्वत्सवाक्यानि सूक्ताऽसूक्तानि यानि च।

तानि स्वीकुरु सर्वज्ञे दयालुत्वेन सादरम्॥६८॥

हे माते, हे सर्वज्ञे, आप पुत्र के सारे भले-बुरे (साधु-असाधु) वचनों को दयालु भाव से सादर स्वीकार करें॥६८॥

भवतीं शरणं गत्वा कृतार्थाः स्युः पुरातनाः।

इति सञ्चिन्त्य मनसा त्वामहं शरणं व्रजे॥६९॥

हे माते, आपकी शरण में जाकर मेरे सारे पूर्वज धन्य-धन्य हो गये। मन में यही सोंचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ॥६९॥

अनन्ता नित्यसुखिनस्त्वद्भक्तास्त्वत्परायणाः।

इति वेदप्रमाणाद्धि देवि! त्वां शरणं व्रजे॥७०॥

हे माते, आप में अनुरक्त अनन्त भक्त नित्य आपकी शरण में जाकर सुखी हो गये, ऐसा वेदों में प्रमाण है। हे देवि मैं भी इसी कारण आपकी शरण में आया हूँ॥७०॥

तव प्रतिज्ञा मद्भक्ता न नश्यन्त्विति वै क्वचित्।

इति सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य प्राणान्संधारयाम्यहम्॥७१॥

(हे माता) आपकी प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त कभी विनाश को प्राप्त नहीं करते, यही सोंच-सोंच मैं जीवित हूँ॥७१॥

त्वदधीनस्त्वहं मातस्त्वत्कृपा मयि विद्यते।

यावत् सम्पूर्णकामः स्यां तावद्देहि दयानिधे!॥७२॥

हे दयानिधि माते, मैं आपके अधीन हूँ। मेरे सारे मनोरथ जब तक पूर्ण नहीं हो जाये, आपकी कृपा मुझ पर बनी रहे॥७२॥

क्षणमात्रं न सक्नोमि जीवितुं त्वत्कृपां विना।

न जीवन्तीह जलजा जलं त्यक्त्वा जलग्रहाः॥७३॥

जैसे जल में रहनेवाले सारे जलज जल को छोड़कर इस संसार में जीवित नहीं रह सकते, उसी तरह हे माते, मैं भी आपकी कृपा के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता।

यथा हि पुत्रवात्सल्याज्जननी प्रस्नुतस्तनी।

वत्सं त्वरितमागत्य संप्रीणयति वत्सला॥७४॥

जैसे पुत्र वत्सला माता अपने पुत्र के लिए सदा छाती (स्तन) प्रस्तुत रखती है; उसी तरह हे वत्सला माता, आप भी आर्ये और अपने इस पुत्र के लिए अपना प्रेम उड़ेल दें॥७४॥

यदि स्यां तव पुत्रोऽहं माता त्वं यदि मामकी।

दयापयोधरस्तन्य-सुधाभिरभिषिञ्च माम्॥७५॥

यदि मैं आपका पुत्र हूँ और आप मेरी माता हैं, तो हे माता, अपनी छाती के (स्तन के) दया रूप दुग्धामृत से मुझे नहला दें॥७५॥

मृग्यो न गुणलेशोऽपि मयि दोषैकमन्दिरे।

पांसूनां वृष्टिविन्दूनां दोषाणां च न मे मितिः॥७६॥

मैं दोष का मन्दिर हूँ। गुण का लेश भर भी खोजने पर मुझे में नहीं मिलेगा और उनदोषों को दूर करने के लिए पवित्र वर्षा के एक जल विन्दु के समान भी मेरी मति नहीं है॥७६॥

पापिनामहमेवाग्रयो दयालूनां त्वमग्रणीः।

दयनीयो मदन्योऽस्ति त्व कोऽत्र जगत्त्रये॥७७॥

पापियों में मैं अग्रणी हूँ और आप दयालुओं में अग्रणी हैं। इस समय तीनों लोकों में मेरे सिवा आपके लिए और कौन दया का पात्र है॥७७॥

विधिनाऽहं न सृष्टश्चेन्न स्यात्तव दयालुता।

आमयो वा न सृष्टश्चेदौषधस्य वृथोदयः॥७८॥

ब्रह्मा यदि मुझे बनाया न होता तो आपकी दयालुता किस पर होती। ठीक उसी तरह, जैसे रोग नहीं होते तो औषधियों का क्या होता है?॥७८॥

कृपा मदग्रजा किं ते अहं किं वा तदग्रजः।

विचार्य देहि मे वित्तं तव देवि! दयानिधे!॥७९॥

क्या कृपा मेरी अग्रजा है या मैं कृपा का अग्रज हूँ। ऐसा विचार कर हे माता, हे दया निधि, मुझे धन-धान्य से भर दें॥७९॥

माता पिता त्वं गुरु-सद्गतिः श्रीः त्वमेव संजीवनहेतुभूता।

अन्यन्न मन्ये जगदेकनाथे! त्वमेव सर्वं मम देवि! सत्या॥८०॥

संसार की एक मात्र स्वामिनी, तुम्हीं माता, पिता, गुरु और उत्तम गति हो; तुम्हीं हमारे जीवन का कारण हो मैं दूसरे को कुछ भी नहीं मानता हूँ। हे सत्या देवी, तुम्ही मेरी सब कुछ हो॥८०॥

आद्यादिलक्ष्मीर्भव सुप्रसन्ना विशुद्ध-विज्ञान-सुखैकदोग्धी।

अज्ञानहन्त्री त्रिगुणातिरिक्ता प्रज्ञाननेत्रा भव सुप्रसन्ना॥८१॥

हे आद्या आदि लक्ष्मी, मेरे ऊपर प्रसन्न हो। विशुद्ध ज्ञान और सुख रूपी दूध देने वाली गाय के समान देवी, अज्ञान का नाश करनेवाली, सत्त्व, रजस् और तमोगुण इन तीनों से परे तथा उत्कृष्ट ज्ञान रूपी नेत्रोंवाली, मेरे ऊपर प्रसन्न हों॥१८१॥

अशेष-वाग्जाड्य-मलापहन्त्री नवं नवं स्पष्टसुवाक्प्रदायिनी।

ममेह जिह्वाग्र-सुरङ्ग-नर्तकी भव प्रसन्ना वदने च मे श्रीः॥८२॥

वाणी सम्बन्धी सभी प्रकार की जड़ता तथा दोषों का नाश करनेवाली, नवीन और स्पष्ट वाणी प्रदान करनेवाली, मेरी जिह्वा के अग्रभाग रूपी सुन्दर रंगमञ्च पर नृत्य करनेवाली वास करें॥१८२॥

समस्तसम्पत्सु विराजमाना समस्ततेजश्च विभासमाना।

विष्णुप्रिये! त्वं भव दीप्यमाना वाग्देवता मे वदने प्रसन्ना॥८३॥

हे वाणी की देवी, सभी सम्पत्तियों में तुम्हीं विराजमान रहती हो, सभी ज्योतियों में तुम्हीं तो चमकती हो, हे विष्णु की प्रिया, खूब चमको और मेरे मुख पर प्रसन्न होओ॥१८३॥

सर्वार्थदा सर्वजगत्प्रसूतिः सर्वेश्वरी सर्वभयापहन्त्री।

सर्वोन्नता त्वं सुमुखी भव श्रीर्हिरण्मयी मे नयने प्रसन्ना॥८४॥

सभी प्रकार के प्रयोजनों का फल देनेवाली, सभी प्राणियों की माता, सबकी स्वामिनी, सभी प्रकार के भय का नाश करने वाली, सबसे ऊपर रहनेवाली, सुन्दर मुखवाली स्वर्णमयी लक्ष्मी मेरी आँखों पर प्रसन्न हों॥१८४॥

सर्वप्रदर्शं सकलार्थदे त्वं प्रभासु लावण्यदयाप्रदोग्ध्री।

सुवर्णदे त्वं सुमुखी भव श्रीर्हिरण्मयी मे नयने प्रसन्ना॥८५॥

सब कुछ दिखाने वाली, सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली, ज्योति में लावण्य और दया का संचार करने वाली, सुवर्ण देनेवाली, सुन्दर मुखवाली हे देवी स्वर्ण मयी लक्ष्मी, मेरी आँखों पर प्रसन्न हों॥१८५॥

समस्त-विघ्नौघ-विनाश-कारिणी समस्तभक्तोद्धरणे विचक्षणा।

अनन्त-सौभाग्य-सुखप्रदायिनी हिरण्मयी मे नयने प्रसन्ना॥८६॥

सभी प्रकार की बाधाओं के समूह का नाश करनेवाली सभी भक्तों का उद्धार करने में कुशल, अनन्त सौभाग्य का सुख देने वाली, स्वर्णमयी लक्ष्मी, मेरे ऊपर प्रसन्न हों॥१८६॥

देवि! प्रसीद दयनीयतमाय मह्यं देवाधिनाथ-भवदेव-गणाभिवन्द्ये।

मातस्तथैव भव सन्निहिता दृशोर्मे प्रीत्या समं मम मुखे भव सुप्रसन्ना॥८७॥

हे देवी, मैं सबसे अधिक दयनीय हूँ, मेरे ऊपर प्रसन्न हों। देवों के स्वामी भगवान् शिव की वन्दनीया हे माता, उसी प्रकार आप मेरी आँखों के निकट प्रेम पूर्वक वास करें और मेरे मुख पर प्रसन्न हों॥१८७॥

मां वत्स भैरभयदानकरोऽर्पितस्ते

मौलौ ममेति मयि दीनदयानुकम्पे।

मातः! समर्पय मुदा करुणाकटाक्षं

माङ्गल्यबीजमिह नः सृज जन्म मातः॥८८॥

‘हे वत्स! डरो मत’ इस भाव से अभय प्रदान करने वाला हाथ मेरे मस्तक पर हो। दीन-दुःखियों पर दया करनेवाली हे मातः आप प्रसन्न होकर मुझ पर करुणा भरी आँखों से तिरछी नजर डालें। और हम सब के मंगल के लिए बीज डालें॥१८८॥

कटाक्ष इह कामधुक् तव मनस्तु चिन्तामणिः
करः सुरतरुः सदा नवनिधिस्त्वमेवेन्द्रिरे।
भवेत्तव दयारसो मम रसायनं चाञ्चहं
मुखं तव कलानिधिर्विविधवाञ्छितार्थप्रदम्॥८९॥

हे माता, आपकी तिरछी नजर से सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं; आपका मन सभी प्रकार की चिन्ता को दूर करने वाली मणि है। आपका हाथ कल्पवृक्ष के समान सब कुछ देनेवाला है। हे लक्ष्मी, आप स्वयं नौ सिद्धियाँ हैं। आपकी दया का मेरे लिए जीवनदायक रसायन है। आपका मुख सभी कलाओं का सागर है, जिससे अनेक प्रकार की कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं॥१८९॥

यथा रसस्पर्शनतोऽयसोऽपि सुवर्णता स्यात् कमले तथा ते।
कटाक्षसंस्पर्शनतो जनानाममङ्गलानामपि मंगलत्वम्॥९०॥

हे लक्ष्मी, जैसे रसायन के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी तिरछी नजर पड़ते ही लोगों का अमंगल भी मंगल बन जाता है॥१९०॥

देहाति नास्तीति वचःप्रवेशाद् भीतो रमे! त्वां शरणं प्रपद्ये।
अतः सदाऽस्मिन्नभयप्रदा त्वं सहैव पत्या मयि सन्निधेहि॥९१॥

हे लक्ष्मी, ‘इस शरीर के आगे कुछ भी नहीं है’ इस अज्ञानमयी वाणी सुनने के कारण मैं भयभीत होकर आपकी शरण में आया हूँ अतः हमेशा अभय प्रदान करनेवाली लक्ष्मी आप अपने पति के साथ मुझमें वास करें॥१९१॥

कल्पद्रुमेण मणिना सहिता सुरम्या
श्रीस्ते कला मयि रसेन रसायनेन।
आस्तां यतो मम च दृक्शिरपाणिपाद-
स्पृष्टाः सुवर्णवपुषः स्थिरजङ्गमाः स्युः॥९२॥

हे देवी! कल्प वृक्ष, मणि, रस एवं रसायन के साथ आपकी सुन्दर कला मुझमें वास करे जिससे मेरी दृष्टि, सिर, हाथ और पैर के भी स्पर्श से इस संसार के स्थावर और जंगम सोने के समान बन जाएँ॥१९२॥

आद्यादि-विष्णोः स्थिरधर्मपत्नी त्वमेव पत्या मयि सन्निधेहि।
आद्यादि-लक्ष्मि! त्वदनुग्रहेण पदे पदे मे निधिदर्शनं स्यात्॥९३॥

आद्य आदि विष्णु की सदा पत्नी बनी रहनेवाली, तुम ही अपने पति के साथ मुझमें वास करो। हे आद्या आदि लक्ष्मी, आपकी कृपा से कदम कदम पर मुझे खजाने दीख जायें॥१९३॥

आद्यादि-लक्ष्मीहृदयं पठेद् यः स राज्यलक्ष्मीरचलां तनोति।
महादरिद्रोऽपि भवेद्धनाढ्यस्तदन्वये श्रीः स्थिरतां प्रयाति॥९४॥

आद्या आदि लक्ष्मी के हृदय-स्तोत्र का जो पाठ करते हैं उनकी स्थिर राज्यलक्ष्मी बढ़ती है। अत्यन्त निर्धन व्यक्ति भी महान् धनी हो जाता है और उसके वंश में लक्ष्मी स्थिर होकर वास करती है॥११४॥

यस्य स्मरणमात्रेण तुष्टा स्याद्विष्णुवल्लभा।

तस्याऽभीष्टं ददात्याशु तं पालयति पुत्रवत्॥११५॥

केवल स्मरण करने से जिस व्यक्ति पर लक्ष्मी सन्तुष्ट हो जाती है उसकी कामना वह शीघ्र पूर्ण करती है और पुत्र के समान उसका पालन करती है॥

इदं रहस्यं हृदयं सर्वकामफलप्रदम्।

जपः पञ्चसहस्रं तु पुरश्चरणमुच्यते॥११६॥

सभी मनोवाञ्छित फलों को देने वालों यह लक्ष्मी हृदय रहस्य है। इसका पाँच हजार बार जप पुरश्चरण कहलाता है।

त्रिकालमेककालं वा नरो भक्तिसमन्वितः।

यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि याति परमां श्रियम्॥११७॥

तीन बार या एक बार जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक इसका पाठ करे या सुने उसे उत्तम लक्ष्मी की प्राप्ति होती है॥११७॥

महालक्ष्मीं समुद्दिश्य निशि भार्गववासरे।

इहं श्रीहृदयं जप्त्वा पञ्चवारं धनी भवेत्॥११८॥

महालक्ष्मी के निमित्त शुक्रवार की रात में इस लक्ष्मीहृदय का पाँच बार पाठ करने से वह धनवान् होता है॥११८॥

अनेन हृदयेनाऽन्नं गर्भिण्या अभिमन्त्रिम्।

ददाति तत्कुले पुत्रो जायते श्रीपतिः स्वयम्॥११९॥

गर्भवती को इस लक्ष्मीहृदय से अभिमन्त्रित अन्न खिलाने पर कुल में पुत्र उत्पन्न होता है और वह स्वयं धनवान् हो जाता है॥११९॥

नरेण वाऽथवा नार्या लक्ष्मीहृदयमन्त्रिते।

जले पीते च तद्वंशे मन्दभाग्यो न जायते॥१२०॥

पुरुष अथवा नारी इस लक्ष्मीहृदय से अभिमन्त्रित जल का पान करे तो उसके वंश में कोई व्यक्ति अभाग्य नहीं रहता है॥१२०॥

य आश्विने मासि च शुक्लपक्षे रमोत्सवे सन्निहितैकभक्त्या।

पठेत्तथैकोत्तरवारवृद्ध्या लभेत् स सौवर्णमयीं सुवृष्टिम्॥१२०१॥

जो आश्विन मास के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा के दिन लक्ष्मी उत्सव में एकाग्र भक्ति पूर्वक एक बार पढ़े और एक सप्ताह तक एक एक पाठ बढा कर करे उसके घर सोने की वर्षा होती है॥१२०१॥

य एकभक्तोऽन्वहमेकवर्षे विशुद्धधीः सप्ततिवारजापी।

स मन्दभाग्योऽपि रमाकटाक्षाद् भवेत् सहस्राक्ष-शताधिक-श्रीः॥१२०२॥

जो लक्ष्मी में एकाग्र भक्ति के साथ एक वर्ष तक शुद्ध भाव से सत्तर वार प्रतिदिन इसका पाठ करे वह अभागा भी लक्ष्मी की एक नजर से इन्द्र से भी अधिक सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है॥102॥

श्रीशांघ्रिभक्तिं हरिदासदास्यं प्रपन्नमन्त्रार्थ-दृढैकनिष्ठां।

गुरोः स्मृतिं निर्मलबोधबुद्धिं प्रदेहि मातः परमं पदं श्रीः॥१०३॥

हे माता, भगवान् विष्णु में भक्ति, विष्णु के दासों की दासता, मन्त्र के अर्थ की प्राप्ति, अटूट आस्था, गुरु की स्मृति तथा निर्मल बुद्धि मुझे प्रदान करें तथा मुझे परम पद की प्राप्ति भी हो॥103॥

पृथ्वीपतित्वं पुरुषोत्तमत्वं विभूतिवासं विविधार्थसिद्धिम्।

सम्पूर्णकीर्तिं बहुवर्षभोगं प्रदेहि मे देवि! पुनः पुनस्त्वम्॥१०४॥

हे माता, मुझे भूमि का स्वामी बना दें, मुझे श्रेष्ठ मनुष्य बनावें, मुझे ऐश्वर्य प्रदान करें और अनेक प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करें। हे माता, मुझे सम्पूर्ण ख्याति तथा अनेक वर्षों तक भोग प्रदर करें॥104॥

वादार्थसिद्धिं बहुलोकवश्यं वयःस्थिरत्वं ललनासु भोगम्।

पौत्रादिलब्धिं सकलार्थसिद्धिं प्रदेहि मे भार्गवि! जन्मजन्मनि॥१०५॥

हे भार्गवी, मुझे जन्म-जन्मान्तर तक शास्त्रार्थ में जीत, अनेक लोकों पर विजय, बहुत दिनों की युवावस्था तथा नारियों का भोग, पौत्र आदि की प्राप्ति, सभी प्रकार की कामनाओं की सिद्धि प्रदान करें॥105॥

सुवर्णवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः विभूतिवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः।

विज्ञानवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः सौभाग्यवृद्धिं कुरु मे गृहे श्रीः॥१०६॥

हे लक्ष्मी, मेरे घर में सोना, ऐश्वर्य, ज्ञान एवं सौभाग्य की वृद्धि करें॥106॥

ॐ यं हं कं लं पं श्रीः।

ध्यायेल्लक्ष्मीं प्रहसितमुखीं कोटिबालार्कभासां

विद्युद्गुणाम्बरवरधरां भूषणाढ्यां सुशोभाम्।

बीजापूरं सरसिजयुगं बिभ्रतीं स्वर्णपात्रं

भर्त्रा युक्तां मुहुरभयदां महामप्यच्युतश्रीः॥१०७॥

हँसते हुए मुखवाली, करोड़ो उदीयमान सूर्य के समान चमक वाली, विद्युत के रंग के समान वस्त्र धारण करनेवाली, अनेक प्रकार के आभूषणों से लदी हुई, कमलाक्ष, सोने का घड़ा तथा दो कमल हाथों में धारण करनेवाली, पति विष्णु के साथ रहनेवाली बार-बार अभय प्रदान करनेवाली लक्ष्मी का ध्यान करता हूँ। मुझे अटल सम्पत्ति प्रदान करें॥107॥

गुह्याऽतिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणाऽस्मत्कृतं जपम्।

सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्मयि स्थिरा॥१०८॥

अति गोपनीय मन्त्रों की रक्षा करनेवाली हे देवी, मेरे द्वारा इस किये गये जप को ग्रहण करें। इससे मुझे आपकी कृपा से सिद्धि मिले॥108॥

इत्यथर्वणरहस्ये लक्ष्मीहृदयस्तोत्रं सम्पूर्णम्।



श्रीनारायणहृदयस्तोत्र

ॐ अस्य श्रीनारायणहृदयस्तोत्रमन्त्रस्य भार्गव ऋषिः,
अनुष्टुप् छन्दः, श्रीलक्ष्मीनारायणो देवता, श्रीलक्ष्मी-
नारायणप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

अथ करन्यासः

ॐ नारायणः परं ज्योतिरित्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ नारायणः परं ब्रह्मेति तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ नारायणः परो देवेति मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ नारायणः परं धामेति अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ नारायणः परो धर्म इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ विश्वं नारायणः पर इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।
एवं हृदयादिन्यासः ।

अथ ध्यानम्

उद्यदादित्यसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यायेल्लक्ष्मीपतिं हरिम् ।।
'ॐ नमो भगवते नारायणाय' इति मन्त्रं जपेत् ।।

श्रीवेदव्यास उवाच

श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।
नारायणः परं ब्रह्म नारायण! नमोऽस्तु ते ।। 1 ।।
नारायणः परो देवो दाता नारायणः परः ।
नारायणः परो धाता नारायण नमोऽस्तु ते ।। 2 ।।
नारायणः परं धाम ध्याता नारायणः परः ।
नारायणः परो धर्मो नारायण नमोऽस्तु ते ।। 3 ।।
नारायणः परो यज्ञो विद्या नारायणः परा ।
विश्वं नारायणः साक्षान्नारायण नमोऽस्तु ते ।। 4 ।।
नारायणाद् विधिर्जातो जातो नारायणाच्छिवः ।

जातो नारायणादिन्द्रो नारायण नमोऽस्तु ते ।। 5 ।।
रविर्नारायणं तेजश्चन्द्रो नारायणं महः ।
वह्निर्नारायणः साक्षान्नारायण नमोऽस्तु ते ।। 6 ।।
नारायण उपास्यः स्याद्गुरुर्नारायणः परः ।
नारायणः परो बोधो नारायण नमोऽस्तु ते ।। 7 ।।
नारायणः फलं मुख्यं सिद्धिर्नारायणः सुखम् ।
सर्वो नारायणः शुद्धो नारायण नमोऽस्तु ते ।। 8 ।।
नारायणस्त्वमेवासि नारायण हृदि स्थितः ।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरितमानसः ।। 9 ।।
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा जपामि जनपावनम् ।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद्भावबोधकः ।। 10 ।।
भावभृद्भावभूतस्त्वं मम सौख्यप्रदो भव ।
त्वन्मायामोहितं विश्वं त्वयैव परिकल्पितम् ।। 11 ।।
त्वदधिष्ठानमात्रेण सैव सर्वार्थकारिणी ।
त्वमेवैतां पुरस्कृत्य मम कामान् समर्पय ।। 12 ।।
न मे त्वदन्यः सन्नाता त्वदन्यं नहि दैवतम् ।
त्वदन्यं नहि जानामि पालकं पुण्यरूपकम् ।। 13 ।।
यावत् सांसारिको भावो मनस्थो भावनात्मकः ।
तावत् सिद्धिर्भवेत् साध्या सर्वथा सर्वदा विभो ।। 14 ।।
पापिनामहमेकाग्र्यो दयालूनां त्वमग्रणीः ।
दयनीयो मदन्योऽस्ति तव कोऽत्र जगत्त्रये ।। 15 ।।
त्वयाऽप्यहं न सृष्टश्चेन्न स्यात्तव दयालुता ।
आमयो वा न सृष्टश्चेदौषधस्य वृथोदयः ।। 16 ।।
पापसंघपरिक्रान्तः पापात्मा पापरूपधृक् ।

त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यस्त्राता मे जगतीतले ।।17।।	एवं मध्ये द्विवारेण जपेल्लक्ष्मीहृदं हि तत् ।।24।।
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।	लक्ष्मीहृदयकं स्तोत्रं सर्वमेतत्प्रकाशितम् ।
त्वमेव विद्या च गुरुस्त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।18।।	तद्वज्रपादिकं कुर्यादितत्सङ्कलितं शुभम् ।।25।।
प्रार्थनादशकं चैव मूलाष्टकमथापि वा ।	स सर्वकाममाप्नोति, आधिव्याधिभयं हरेत् ।
यः पठेच्छृणुयात्रित्यं तस्य लक्ष्मीः स्थिरा भवेत् ।।19।।	गोप्यमेतत्सदा कुर्यान्न सर्वत्र प्रकाशयेत् ।।26।।
नारायणस्य हृदयं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ।	इति गुह्यतमं शास्त्रमुक्तं ब्रह्मादिकैः पुरा ।
लक्ष्मीहृदयकं स्तोत्रं यदि चैतद्विना कृतम् ।।20।।	तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपयेत्साधयेत्सुधीः ।।27।।
तत्सर्वं निष्फलं प्रोक्तं लक्ष्मीः क्रुध्यति सर्वतः ।	यत्रैतत्पुस्तकं तिष्ठेल्लक्ष्मीनारायणात्मकम् ।
एतत्सङ्कलितं स्तोत्रं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ।।21।।	भूतप्रेतपिशाचांश्च वेतालान्नाशयेत्सदा ।।28।।
लक्ष्मीहृदयकं स्तोत्रं तथा नारायणात्मकम् ।	लक्ष्मीहृदयप्रोक्तेन विधिना साधयेत्सुधीः ।
जपेद्रयः सङ्कलीकृत्य सर्वाभीष्टमवाप्नुयात् ।।22।।	भृगुवारे च रात्रौ तु पूजयेत्साधयेत्सुधीः ।।29।।
नारायणस्य हृदयमादौ जप्त्वा ततः परम् ।	गोपनात्साधनाल्लोके धन्यो भवति तत्त्ववित् ।
लक्ष्मीहृदयकं स्तोत्रं जपेन्नारायणं पुनः ।।23।।	नारायणहृदं नित्यं, नारायण नमोऽस्तु ते ।।30।।
पुनर्नारायणं जप्त्वा पुनर्लक्ष्मीहृदं जपेत् ।	इत्यथर्वणरहस्योत्तरभागे नारायणहृदयं सम्पूर्णम् ।
पुनर्नारायणहृदं सम्पुटीकरणं जपेत् ।	❖

रामनाम की महिमा

‘खण्डप्रशस्तिः’ नामक संस्कृत रचना के कवि साक्षात् हनुमानजी माने जाते हैं। उन्होंने पत्थर पर अपने आराध्यदेव की स्तुति लिखी थी, जो समुद्र में डूब गयी। राजा भोजने इसे गोताखोरों की सहायता से संकलित कर जगत् में प्रकाशित कराया। इसमें श्रीराम की एक स्तुति इस प्रकार है:-

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥१॥

श्रीराम का नाम आप सब को समृद्धि दे। वह कल्याण का स्थान है, कलियुग के दोषों का मन्थन करता है, पवित्र वस्तुओं को भी पवित्र करता है। वह परम पद की प्राप्ति के लिए चल पड़े मोक्षाभिलाषी लोगों का पाथेय है। श्रेष्ठ कवियों की वाणी उस रामनाम तक पहुँचकर विराम करती है। वह सज्जनों का जीवन है तथा धर्म के वृक्ष का बीज है।

इसी श्लोक की व्याख्या में 16वीं शताब्दी के टीकाकार कीका ने लिखा है-

रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः।
कलौ युगे कल्मषमानुषाणामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥

रघुवंश में दिव्यानुभूतियों की एक झलक

□ सुरेश चन्द्र मिश्र (स.सं.)

अलौकिक चेतना सम्पन्न महाकवि कालिदास अपने बहुसंख्य काव्य-प्रेमियों के बीच अद्यावधि उसी तरह संजीवित हैं जैसे सूर्य रश्मियों के साथ उसकी और्वरिक उष्णता, चन्द्र किरणों के साथ उसकी तापहर शीतलता, गंगा के निर्मल जल के साथ उसकी

सतत गत्यात्मकता सनातन प्रकृति के साथ उसकी रमणीय आह्लादकता, सुकुमार अङ्गनाओं के साथ उसकी दुर्लभ मोहकता। भारतीय संस्कृति के अमर गायक महाकवि कालिदास अपनी अमर रचनाओं के साथ प्रकृति के जितने निकट हैं, वैष्णव सम्प्रदाय अथच आर्य-संस्कृति से भी उतने ही सहज संपृक्त। एक ओर जहाँ काव्य कला देवी इनकी सिद्ध लेखनी से अद्भुत शोभा शृंगार पाती है वहीं

दूसरी ओर सदेह साकार अवतरित पुरातन पुरुष इनकी तपःपूत उद्भावना से ब्रह्मत्व की अध्रुवीयता प्राप्तकर रहस्यमय भी हो उठता है और ऐसा हो भी क्यों न, वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण, वेदान्त उसे 'नेति-नेति' कहकर थक जो गए हैं।

रघुवंश महाकाव्य महाकवि कालिदास की

सर्वाधिक प्रौढतम लोकप्रिय कृति है। कहा जाता है कि यह उनकी अन्तिम रचना है। इसके 25 सर्ग थे, परन्तु वर्तमान समय में मात्र 19 सर्ग ही उपलब्ध हैं। इसीकारण बल्लभदेव और मल्लिनाथ जैसे श्रेष्ठ टीकाकारों ने इन्हीं 19 सर्गों पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं।

कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशीय राजा दिलीप से आरम्भ कर अन्तिम राजा अग्निवर्ण तक कुल 27 राजाओं की विस्तृत चर्चा की है। यद्यपि वा.रा. आदि काण्ड सर्ग 70 के 19-43 श्लोकों में दिलीप से राम तक मात्र 18 राजाओं के ही नाम निर्दिष्ट हैं किन्तु रघुवंश (कालिदासकृत) में (1) दिलीप (2) रघु (3) अज (4) दशरथ (5) राम तक मात्र 5 पीढ़ियाँ ही उपलब्ध हैं जिनमें

महाकवि कालिदास भारतीय मनीषियों के बीच एक ओर जहाँ अपनी अद्वितीय काव्य-कला के लिए अतिशय प्रसिद्ध हैं, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिकता के शीर्ष पर भी उतने ही श्लाघनीय हैं। सुष्ठु सन्त-काव्य-चिन्तन वस्तुतः विशुद्ध परमानन्द चिन्तन है। काव्य-पथ से गुजरता हुआ कवि अनेकशः दिव्य अनुभूतियों का साक्षात्कार करता है। रघुवंश के दशम सर्ग में कवि कुल गुरु कालिदास ने उस अलौकिक दिव्य प्रभास का जो संस्पर्श किया, उसे उन्होंने शब्दों के द्वारा वाणी देने में अद्भुत सिद्धि पायी है। प्रस्तुत आलेख उस अवाङ्मनोगोचर को गोचर एवं सर्वजन संवेद्य बनाने का स्तुत्य प्रयास है।

27 राजाओं के नाम क्रमित हैं। राम के पुत्र कुश, कुशावती के राजा थे और सुदर्शन के पुत्र अग्निवर्ण अयोध्या के राजा थे। अग्निवर्ण विलासी राजा थे। सारा राज-काज मंत्रियों पर छोड़कर स्वतः अन्तःपुर में ही स्त्रियों के विलास में डूबे रहते थे। धीरे-धीरे इन्हें क्षय रोग हो गया। बाद इनकी गर्भवती पत्नी

ने राज्य-भार संभाला। रघुवंश के अनुसार इस महारानी के गर्भ से उत्पन्न बालक ही रघुवंश का अन्तिम राजा हुआ।

प्रस्तुत आलेख में रघुवंश के समस्त राजाओं की चर्चा मेरा अभीष्ट नहीं। हाँ, रघुकार संज्ञा प्राप्त कवि शिरोमणि महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश दशम सर्ग में राम-जन्म-कथा-सूत्र के व्याज से देवताओं द्वारा उनकी (रामकी) स्तुति की निगूढता से आप श्रद्धालुओं को परिचित कराना मेरा यशोधर्म है।

दुर्द्धर्ष रावण के दुर्वह अत्याचार से पीड़ित हो भृगुऋष्यादि समेत सभी देवता क्षीर सागर पहुँच आदि पुरुष भगवान् विष्णु का परमपुनीत दर्शन करते हैं। देखिए-

**ते च प्रापुरुदन्तवन्तं बुबुधे चादिपूरुषः।
अव्याक्षेपो भविष्यन्ताः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्॥**

(रघु. 10/6)

**योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः।
भृगवादीननुगृहणन्तं सौख्यशायनिकानृषीन्॥**

(रघु. 10/14)

क्षीर सागर शायी भगवान् विष्णु आदि पुरुष हैं। चेतनासम्पन्न हैं। ज्योंहि परब्रह्म सचेतन होता है, पुरुष की नाम रूपात्मक संज्ञा से अभिहित होता है, त्योंहि वह प्रकृति की सुख-दुःखात्मक संघटनाओं का न केवल साक्षी वरन् धीरोदात्त भोक्ता भी होता है। नैसर्गिक राग-द्वेष, हर्ष-विषाद उसे भी उतने ही व्यथित करते हैं जितने हम-आप सबको। किन्तु उस सहनशीलता में निष्ठा और धैर्य के बीच धर्म की धारा सन्निविष्ट होती है, जो व्यथा को कथा का रूप देती है।

तभी तो रावण के दुर्दम अत्याचार से घोर हाहाकार करते शान्तिप्रिय देवताओं की अश्रुपूरित प्रार्थना पर सद्यः द्रवित हो कमलाकान्त भगवान् विष्णु उन्हें तापहरण करने का आश्वासन देते हैं और अवतार लेकर उसका पालन करते हैं। देखिए-

**सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षयम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम्॥**

(रघु. 10/44)

प्रस्तुत श्लोक ब्रह्म की रहस्यमयता और दिव्य जैविकता पर दृष्टिपात करता है। भगवान् सोकर उठे हैं। हाँ, उनका सोना, सामान्य सोना नहीं, योगनिद्रा है।

भगवान् पतंजलि ने पातंजल योग सूत्रम् के समाधिपाद में निद्रावृत्ति को व्याख्यायित करते हुए कहा है- “अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। (1/10 समाधि पाद, सूत्र-10) अर्थात् अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाली वृत्ति ‘निद्रा’ है।” जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल मात्र ज्ञान के अभाव की प्रतीति रहती है। वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस चित्तवृत्ति के आश्रित रहता है, वह निद्रावृत्ति है। निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति विशेष है, तभी तो मनुष्य गाढ़ी निद्रा से उठकर कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ी निद्रा आयी जिसमें किसी बात की कोई खबर नहीं रही। इस स्मृति वृत्ति से ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है, नहीं तो जागने पर उसकी स्मृति कैसी।

निद्रा भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की है। जिस निद्रा से जागने पर मन और इन्द्रियों में सात्विक भाव भर जाता है, आलस्य का नाम निशान भी नहीं रहता और जो योग साधना में उपयोगी है- अक्लिष्ट निद्रा है। पर जो निद्रा परिश्रम के अभाव का बोध पैदा कर विश्राम जनित सुख में आसक्ति उत्पन्न करती है, क्लिष्ट निद्रा है।” (पातञ्जल योग दर्शन, गीता प्रेस, गोरखपुर 31वां पुनः मुद्रण पृ. 7)

क्लिष्ट निद्रा प्राणियों में अकड़, आलस्य, दीर्घसूत्रता, तन्द्रा, भय, क्रोध आदि षड् विकार उत्पन्न करती है। विकृतियों का सन्निवेश करती है। परन्तु साक्षात् श्री विग्रह भगवान् विष्णु का सोना, सामान्य सोना नहीं अपितु ‘योग निद्रा’ है।

‘योग निद्रा’ यौगिक शब्द है जो ‘योग’ और ‘निद्रा’ के अधिगम से बना है। ‘योग’ युज् (धातु)- भावादौ धञ्, कुत्व से निष्पन्न है एवं ‘निद्रा’ निन्द् (धातु)+रक्+टाप्, न लोपः से निष्पन्न है। अर्ध चिन्तन और अर्ध निद्रित अवस्था यानी जागरण और निद्रा के मध्य की अवस्था योग निद्रा है, जिसे लघु निद्रा भी कहा जाता है। (योगनिद्रां गतस्य मम-पंचदशी, पंचरात्रम्-1, हितोपदेश-3/75, भर्तृहरि-3/41)

प्रलयकाल में जब आदि पुरुष भगवान् विष्णु संसार का संहार कर चुके होते हैं तब क्षीर सागर में आकार योगनिद्रा में सोते हैं। देखिए-

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते॥

(रघु. 13/10)

अब रघुवंश दशम सर्ग में वर्णित परब्रह्म की रहस्यता और दिव्य जैविकता को भली भाँति समझने के लिए पहले कुछ दार्शनिक शब्दों की अन्तः प्रकृति अथच व्यवहार्यता को समझना होगा। यथा- जीव, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, भगवान् ईश्वर, माया, ईश्वर और जीव आदि।

(1) जीव- “शंकर वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म ही है- ‘जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः’ जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म।” व्यवहार दशा में ब्रह्म ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त होकर ‘जीव’ कहलाता है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता तथा कर्ता है। यह पाप-पुण्य का अर्जन करता है और उसका फल भोगता है। यही आवागमन और संसरण करता है। यही बन्ध और मोक्ष का अधिकारी है।

जीव के तीन शरीर होते हैं- स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। स्थूल शरीर पञ्च भूतों से निर्मित है। सूक्ष्म शरीर का निर्माण पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाद, पाणि, वायु और उपस्थ) पाँच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, जिह्वा) मन

और बुद्धि- इन सत्रह अवणवों से मिलकर होता है। कारण शरीर अविद्या निर्मिति आवरण है।”

(2) ब्रह्म- “शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है, जो जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है। वह निर्गुण एवं निराकार होने से प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतः ब्रह्म की सिद्धि शब्द प्रमाण द्वारा की जाती है। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है- आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्।

‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’।

एतमानन्दं अयमात्मानमुपसंक्रामति’ इत्यादि।

अर्थात् जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने पात्र केवल नाम मात्र के विकार हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है। माया ब्रह्म की शक्ति है, पर वह (ब्रह्म) माया से लिप्त नहीं होता। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है-

स यथा अग्नेः क्षुद्रा स्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्यादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।”

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म शब्द की व्याख्या ‘तज्जलान्’ पद से की गई है। ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् (3/14) तज्ज=जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। तल्ल=जिसमें सम्पूर्ण जगत् लीन होता हो तथा अन्=स्थिति काल में जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहकर चेष्टा करता हो। वास्तव में ब्रह्म के यथार्थ रूप का वर्णन असम्भव है। इसीलिए इसे (ब्रह्म को) ‘अवाङ्मनसगोचरम्’। कहा गया है। वह अतिविलक्षण है एवं मन एवं वाणी की सीमा से परे है।” श्रुति का कथन है- यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन॥ ब्रह्म सर्वोच्च वास्तविकता है, जो

अविभक्त चेतना ढंग का है। ब्रह्म, भगवान्, आत्मा या परमात्मा कहलाता है।

**वदन्ति तत् त्वतविदः तत्त्वं यज्ञानमद्वयकम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयेत॥**

(भागवत)

(3) आत्मा- 'आत्मन्' शब्द अत् सातत्य धातु से मनिण् प्रत्यय लगकर बना है। जिसका अर्थ होता है सदैव चलना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा सदैव गत्यात्मक चेष्टा रखती है। कठोपनिषद् भाष्य में आत्मा के चार व्युत्पत्ति मूलक अर्थों का उल्लेख इस प्रकार है-

**यदाप्नेति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥**

अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में लीन करता है, समस्त विषयों का उपभोग करता है और जिसकी सत्ता सदा बनी रहती है, उसे 'आत्मा' कहते हैं। आत्मा का अनुभव 'मैं या तुम' के रूप में होता है जिसमें चेतना केन्द्रित है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध है। उसके अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि अस्वीकार करनेवाली स्वतः आत्मा है। सभी को अपनी सत्ता का स्वतः अनुभव होता है- 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं कह सकता।'

आत्मनः प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्।

स एव निराकर्त्ता तस्यैव आत्मत्वात्॥

सर्वोहि आत्मास्त्विं प्रत्येति।

न नाऽहंमस्तीति।

(शाङ्करभाष्य) आत्मा नित्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है।

जाग्रत और स्वप्नावस्था में तो वह बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का ज्ञान रखता ही है, सुषुप्ति में भी 'मैं खूब सोया' यह स्मृति उसका स्पष्ट प्रमाण है, पूर्व अनुभव का मानस प्रत्यक्ष ही स्मृति है। वह प्रज्ञान घन है।'

आत्मा प्रमाणित चैतन्य है। सम्पूर्ण संसार आत्मा के लिए ही प्रिय होता है। पति, पुत्र, पत्नी, धन आदि केवल आत्मा के लिए ही प्रिय होते हैं। आत्मा का स्वरूप बुद्धि से अगम्य है। यह अणु से भी छोटा और महत् से भी महान् है। यही समस्त प्राणियों के भीतर स्थित है, यही जीव का वास्तविक स्वरूप है, जिसका साक्षात्कार, वह साधना और परमात्मा की कृपा से ही कर पाता है-

अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य

जन्तो निर्हितं गुहायाम्।

तमऋतुः पश्यति वीतशोको

धातुः प्रमादान्महिमानमीशम्॥

(कठो. 2,33)

(4) परमात्मा- "वेद के अनुसार परमात्मा वह है, जो अग्नि में है, जल में है। जिसने निखिल विश्व को व्याप्त कर रखा है। उसे, जो कि पेड़ों में है, पौधों में है, हम उसे बारम्बार प्रणाम करते हैं। देखिए-

यो देवोऽग्नो, यो अप्सु,

यो विश्वं भुवनमाविवेश,

यो औषधिषु, यो वनस्पतिषु,

तस्मै देवाय नमोनमः॥

(5) भगवान् - "तैत्तिरीयोपनिषद् के शब्दों में भगवान् वह है जिससे सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, सब वस्तुएँ जीवित रहती हैं और विदा होते समय ये सब विलीन हो जाती हैं।" देखिए-

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम्।

वेति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(क) निर्गुण- भगवान् को जब सृष्टि से पृथक् करके देखते हैं तब निर्गुण है।

(ख) सगुण- जब उसे (भगवान् को) सब वस्तुओं के रूप में देखा जाता है तो सगुण है।

(6) ईश्वर- 'वेदान्त-मत में 'परब्रह्म' निरूपाधिक निर्गुण है, किन्तु अपर ब्रह्म सोपाधिक सगुण है। उपाधियुक्त सगुण सविशेष ब्रह्म ही 'ईश्वर' नाम से अभिहित है। स्वयं में निष्क्रिय,

निरवयव, निष्प्रपंच ब्रह्म जिस क्षण अपनी अनिर्वचनीय माया शक्ति से उपहित हो जाता है, उसी क्षण वह 'ईश्वर' संज्ञा वाला हो जाता है।"

"वह ईश्वर स्थावर जंगात्मक निखिल प्रपंचों का साक्षी होने से तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण 'सर्वत्र' है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण 'सर्वेश्वर' है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार नियन्त्रित करने के कारण 'सर्वनियन्ता' है।

प्रमाणों के द्वारा यह जाना नहीं जा सकता अतः 'अव्यक्त' है। सभी जीवों के अन्तः हृदय में स्थित होकर प्रेरणा देने के कारण अन्तर्यामी है। और सम्पूर्ण चराचर विश्व का विवर्तरूप में अधिष्ठान होने के कारण 'जगत् का कारण' भी है।"

परब्रह्म- रामानुजाचार्य ने ईश्वर को 'परब्रह्म' भुवनों का उपादान, कर्ता तथा जीवों का नियामक आदि विशेषणों से युक्त बताया है।

देखिए-

वासुदेव परं ब्रह्म कल्याणगुण संयुतः।

भुवनानामुपादानं कर्ता जीव नियामकः॥

ईश्वर ही उपासना का विषय है। ब्रह्म तो प्रसन्नता और क्रिया से रहित है। अतः उसकी उपासना नहीं हो सकती। माया युक्त ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) की ही उपासना हो सकती है-

निर्गुणमपि सत् ब्रह्म नामरूप

गतैर्गुणैः सगुणम् उपासनार्थमुपदिश्यते।

(शां.भा.)

(7) माया- यह दृश्य जगत् मायाच्छन्न है, इसीकारण यह ब्रह्म का विवर्त है। 'रज्जौयथाहेर्ध्रमः'- की मिथ्या प्रतीति ही विवर्त है। यहाँ साँप, रस्सी का विवर्त है। ठीक इसी तरह रेतीली भूमि पर धूप में चमकती सीपी में चाँदी की प्रतीति होती है। यहाँ चाँदी, सीपी का विवर्त है। इसी तरह ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। यह प्रतीति उत्पन्न करनेवाला तत्त्व 'माया' है, 'आचरण' और 'विक्षेप' नामक दो

प्रबल शक्तियों की अधिष्ठात्री माया है। अपनी इन्हीं शक्तियों के द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर उसमें जगत् की सृष्टि करती है।" देखिए-

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।

विशेषशक्तिर्लिङ्ग ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेद वहिश्च ब्रह्म सर्गयोः।

आवृणोत्यपराशक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

(दृग्दृश्यविवेक)

पुनश्च-नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिकता।

सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्या भूता सनातनी॥

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

आचार्य शंकर के अनुसार माया न ब्रह्म के समान यथार्थ है, न आकाश कुसुम के समान अयथार्थ। यह ब्रह्म की बीज शक्ति है तथा अविद्यात्मिका है। इसी को अव्यक्त भी कहा गया है।

देखिए-

अव्यक्त नाम्नी परमेश शक्तिर

नाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका या।

कार्यानुमेया सुधियैव माया

यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

(विवेक चूडामणि)

यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है। माया और अविद्या इसके दो भेद हैं। जिस प्रकृति में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है, वह माया है तथा जिसमें मलिन सत्त्व की प्रधानता है, वह अविद्या है।

(8) **ईश्वर और जीव-** माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म 'ईश्वर' है और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म 'जीव' है।

जीव और ईश्वर में स्वामी-सेवक सम्बन्ध है। ईश्वर स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है। जीव सेवक, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिक तथा अपूर्ण है। जीव कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर साक्षी मात्र है। देखिए-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्व जाते।

**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।”**

(मुण्डको पनिषद्)

प्रस्तुत श्लोक में ईश्वर और जीव को उपभयोपमा विधान द्वारा, रूपकालंकार द्वारा समझाने का सुकर कार्य किया गया है। पिप्पल के वृक्ष पर दो पक्षी (ब्रह्म और जीव) बैठे हैं। एक (जीव) वृक्ष के फलों को चटकार-चटकार कर (स्वादु) खाता है। दूसरा (ब्रह्म) खाता नहीं देखता है। वृक्ष के फल कर्मों के संसूचक हैं।

(9) **माया और जीव-** माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म 'ईश्वर' है और अविद्या (जिसमें मलिन सत्व की प्रधानता रहती है।) में प्रतिबिम्बित ब्रह्म 'जीव' है।

वेदान्तसार में माया को समष्टि अज्ञान और अविद्या को व्यष्टि अज्ञान कहा जाता है। माया ईश्वर की उपाधि होने से शुद्ध सत्व प्रधान है और अविद्या जीव की उपाधि होने से मलिनसत्व प्रधान है।

“**शरीर, आत्मा, परमात्मा-** पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्र, एकादश मन का साक्षीभूत मेरा शरीर है। शरीर को सँभालने वाली आत्मा है। मेरी आत्मा मेरे शरीर का 'आत्म' है। परमात्मा आत्मा को सँभालने वाला है, उसका नियन्त्रण करने का मूल तत्व है। संसार परमात्मा का शरीर है। परमात्मा आत्मा के अन्दर निवास करता है और उसके अन्दर खूब गहराई से प्रविष्ट है। वह (परमात्मा) आन्तरिक मार्ग का दर्शक है। अन्तर्यामी है।”

रघुवंश के दशम सर्ग में श्लोक 15-32 तक भगवान् का गुणानुवाद है। भगवान् के परस्पर विरोधी-विशेषण यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त हैं कि उसपर अनुभवगम्य धारणाएँ लागू नहीं की जा सकतीं। भक्त अपनी भौतिक इन्द्रियों से भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उसे जब उसका थोड़ा आभास होता है तो उसकी आँखें

विषण्ण रह जाती हैं, वाणी व्यथित हो उठती है कुछ कहने के लिए, तभी उसकी चेतना उपहित (ढँक) हो जाती है और वह आनन्दमग्न हो अचेत हो जाता है। देखिए-

“सोइ जानत जेहि देहि जनाइ।

जानइ तुमहि तुमहि होइ जाइ॥”

भक्त की यह भावदशा ही भगवान् के स्वरूप विषयक ऊहापोह का कारण है और तभी, कभी क्या, कभी क्या, कभी कुछ, कभी कुछ आदि नाना विभेदक भाव धारणाएँ हिचकोले लेने लगती हैं दृश्यमान हो उठती हैं। देखिए-

नमो विश्वसृजे पूर्व विश्वं तदनु विप्रते।

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने॥

(रघु. 10/16)

भगवान् योगनिद्रा से उठे हैं। देवताओं और भृगु आदि ऋषियों ने ब्रह्म को तीन भाव-विक्षेपों में देखा। विश्व का सृजन, पालन और संहार की तीनों शक्तियाँ जब एक ही दिव्य पुरुष में दिखाई देने लगती हैं तो वह विराट् पुरुष की उपाधि से मंडित हो जाता है। ब्रह्म जो सर्वोच्च वास्तविकता है, उसके दो रूप हैं- (1) अनुभवातीत (लोकोत्तर) (2) अनुभवगम्य (लौकिक)। चूँकि विष्णु यहाँ शरीरधारी, साक्षात् विग्रह पुरुष हैं, अतः अनुभवगम्य हैं, चर्मचक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों के विषयीभूत हैं। यद्यपि रामानुज (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपनी टीका में संसार की अवास्तविकता और कर्म त्याग के मार्ग का खंडन किया है। उसने यमुनाचार्य द्वारा उनके गीतार्थ संग्रह (4, 37; 4, 3) में प्रकाशित व्याख्या का अनुसरण किया है। उनके अनुसार (रामानुज) ब्रह्म की सर्वोच्च वास्तविकता 'आत्मा' है। वह निर्गुण नहीं है। उसमें आत्म चेतना है और अपना ज्ञान भी है। उसमें संसार का सृजन और जीवों को मुक्ति प्रदान करने की सचेत इच्छा भी है। वह आदर्श, असीम और अनन्त गुणों का आधार है। वह सारे संसार से पहले और सारे संसार से ऊपर है। उसके जैसा

कोई नहीं है। वैदिक देवता उनके सेवक हैं। चतुरपौरुषेय वेद ग्रन्थों में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। इसके एकादशमें अनुवाक् के 'नासदीय प्रकरण' में ब्रह्म और सृष्टि का रहस्य निरूपित है। परमात्मा इसके देवता हैं और त्रैष्टुभ छन्द है। इस अनुवाक् के सारे सूक्त (मंत्र) बिना किसी आडम्बर औपचारिकता के यथार्थ को स्पष्ट रूप से रखते हैं-

देखिए-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्-
म्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं हि तर्हि न
रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्भ्रान्यन्न परः किञ्चनास॥२॥
तमः आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ
प्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्।
तुच्छयेनाम्बपिहितं यदासी-
त्तपस्तन्महिमाना जायतैकम्॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥४॥

“एक समय था जब न नाम रूपादि रहित अवस्था थी, न नामरूपात्मक अवस्था ही थी; न कोई लोक था, न आकाश ही था, जो ऊपर है। किसने आवृत किया था? कहाँ, किसकी सुरक्षा में? क्या अपार गम्भीर जल था)? तब मृत्यु नहीं थी, अमृतत्व भी नहीं था। रात्री तथा दिन का भेदात्मक ज्ञान भी नहीं था। एक कोई कुछ था जो वायु के बिना भी अपनी इच्छा शक्ति से साँस ले रहा था। उससे बढ़कर अलग पहले कुछ नहीं था। महान् अंधकार से ढँका हुआ सर्वप्रथम गहन अंधकार था। इस सम्पूर्ण विश्व का कारणभूत

जल से भिन्न कोई चिह्न नहीं था। वह जो स्थित था, सर्वव्यापी भाव रूप अज्ञान था। अपनी तपस्या की महिमा से वह एक उत्पन्न हुआ था।”

काम जो मन का प्रथम बिकार था, उसमें सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। बुद्धिमानों ने हृदय में प्रज्ञा से विचार कर नाम रूपात्मक जगत् का कारण नामरूप रहित तत्त्व में ही पाया। संसार त्रिगुणात्मक है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड त्रिगुणात्मक है। अणु-परमाणु धनात्मक, ऋणात्मक, उदासीनात्मक सारे तत्त्वांश (Electron, Proton Neutron) त्रिगुणात्मक हैं लेकिन इसका रचयिता गुणातीत हैं ऐसा क्यों? इसका सारा भेद ऋग्वेद (नासदीय) ने खोल कर रख दिया है- “कोई एक था (आसीत्) जो बिना हवा का भी साँस ले रहा था। (आनीदवातं स्वधया तदेकम्) उस समय कोई काल की गणना भी नहीं थी, वह कालातीत था। न दिन था, न रात। अंधकार से ढँका एक गहनतम अंधकार था (तमः आसीत्तमसा गूढमग्रे)। न कोई लोक था न कोई आकाश (आसीद्रजो न व्योमा परो यत्)। फिर यह सृष्टि कैसी हुई? चह चराचर जीव, अंडज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज आदि कैसे बने? इसका निदान नासदीय चतुर्थ सूक्त में है- “कामः तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमो यदासीत्” बस, क्या था।” एकोऽहं बहु स्याम” की लोकोत्तर उद्भावना ने जोर लगाई। तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) का सहज समतामूलक तारतम्य टूटा। यही तारतम्य की भंग भावास्थिति ही प्रकृति है और तब 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' (गीता) को बल मिला। फलस्वरूप चराचर जगत् बना। सृजन, पालन और संहार के अलग-अलग दायित्व प्रज्ञावान् ऋषियों ने सँभाला। इसीलिए वेदों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सब ऋषि कहलाते हैं। फिर विवर्त (भ्रम) बना। शंकाएं धनीभूत हुईं। सूर्यसत्य है या रश्मियाँ? ब्रह्म सत्य है या जगत्? (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। और वहीं से नाना मत, नाना स्वरूप, नाना पंथ, नाना भेद प्रकट हुए।

इन्हीं भावनाओं का निष्ठयूत निदर्शन कालिदास के शब्दों में इस प्रकार है-

**रसान्तराण्येक रसं यथा दिव्यं पयोश्नुते।
देशे देशे गुणोस्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः॥**

(रघु. 10/17)

“जिस प्रकार एक रस वर्षा का जल भिन्न-भिन्न स्थानों में गिरकर अनेक रस वाला हो जाता है, उसी तरह सब प्रकार के विकारों से दूर होते हुए भी आप तीनों गुणों से सम्बन्ध में अनेक रूप धारण करते हैं)।” इस अलौकिक चेतना ने मानुषी चेतना को झकझोरा। आँखें खुलीं। अन्तश्चेतना जगी और रावण के अत्याचार से पीड़ित देवताओं-ऋषियों ने समाधान की जिज्ञासा कुलता में क्षीर सागर शायी भगवान् विष्णु के रूप में दिव्य भूति के दर्शन किए। मौन मुखर हुआ और अनिर्वच की स्तुति में श्लोक बद्ध अन्तर्धारा फूट पड़ी। देखिए-

**नमो विश्व सृजे पूर्व विश्वं तदभु विभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने॥**

(रघु. 10/6)

विश्व का सृजन, पालन और संहार की एकात्म भूमिका से कालिदास को परितोष नहीं मिला। लेखनी की कुंठा मात्र इतने से ही नहीं टूटी। अनिर्वच को वर्चस, अगोचर को गोगभ्य एवं अचिन्त्य को चित्त्य रूप में दिखाने के लिए अपने सारे ज्ञान-विज्ञान, काव्य प्रतिभाओं के उन्मेष-वैभव को आत्मतुष्टि के रूप में रेखाङ्कित किया। देखिए-

**अभेयोमितलोकस्त्वममनर्थी प्रार्थना वहः।
अजितो विष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्त कारणम्॥**

(रघु. 10/18)

जिसकी आराधना में वे लोग खड़े हैं वह अजेय असीम होता हुआ भी जित, ससीम है, क्योंकि वह अवतार धारण करता है और सुख-दुःखादि जरा-मरणात्मक प्रकृति नियोजित बंधन में आबद्ध, मूर्च्छित-बिमोहित होता है।”

हे खग-मृग हे मधुकर श्रेणी।

तुम देखी सीता मृगनयनी॥

की वियोगात्मक दशा इसका सुपुष्ट प्रमाण है। वही अनर्था (निरीह, जिसे कोई चाह नहीं है) है, फिर भी हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है। वह अजित है फिर भी भक्तों से डरता है। देखिए-

प्रबल प्रेम के पाले पड़कर

प्रभु को नियम बदलते देखा।

अपना मान भले टल जाए

पर भक्त का मान न टलते देखा।

और भी- (सूर के सम्बन्ध में)-

हाथ छोड़ा जात है निबल जानि के मोंहि।

गर दिल से तुम गावगे, तो सबल बतैहें तौंहि॥

आदि भावभरित सीदी सादी पंक्तियों ने साबित कर दिया है कि वह हारता है, लेकिन भक्तों से, दुश्मनों से नहीं। वस्तुतः यह हारना उसका हारना नहीं भक्त के प्रति उसके अगाध प्रेम का परिचायक है। परम प्रेम की पराकाष्ठा है। वह स्वतः अव्यक्त है (यानी किसी ने इस चर्म चक्षु से उसे देखा नहीं। उसकी इयत्ता, उसकी समष्टि का अंदाजा भी मानुषी शक्ति से सम्भव नहीं) लेकिन चराचर जगत् उसका व्यक्त कारण है।

महाकवि कालिदास ने उस अनुपम, निगूढ परोक्ष, अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए विरोधाङ्कार का सहारा लिया है। (अभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मता) देखिए-

हृदयस्थमनसन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।

दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः॥

(रघु. 10/19)

पुनश्च-

सर्वज्ञस्त्वविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।

सर्व प्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूप भाक्॥

(रघु. 10/20)

अजस्य गृहणतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।

स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तवा॥

(रघु. 10/24)

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा॥

(रघु. 10/28)

लगभग इन्हीं भावनाओं का सुष्ठु संप्रेषण हम जायसी (प्रसिद्ध मसनवी काव्य पद्मावत के रचयिता। जन्म 906 हिजरी अर्थात् 1500 ई. लगभग) के स्तुति-खंड में पाते हैं। देखिए-

आदि सोई बरनों बड़ राजा।
आदिहुँ अंत राज जेहि छाजा॥
सदा सरवदा राज करेई।
औ जेहिं चाहइ राज तेहि देई॥
छत्रहि अक्षत, निछत्रहि छावा।
दोसर नाहिं जो सरबरि पावा॥
परबत ढाह देखि सब लोगू।
चीटिहि करइ हस्ति कर जोगू॥
बज्रहिं तिनकै मार उड़ाई।
तिनहि बज्र की देई बड़ाई॥
ताकर कीन्ह न जानइ कोई।
करै कोइ जा मन चित होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा।
काहू भीख भवन दुख भारा।
सबइ नास्ति वह अस्थिर।
अइस साज जेहिं करे॥
एक साजइ अरू भाँजई।
चहइ सँवारइ फेर॥

(स्तुति खंड-6)

अलख अरूप अबरन सो करता।
वह सब सौं सब ओहिसों बरता॥
परगत गुपुत सो सरबविआपी।
धरमी चीह्न, चीह्न नहिं पापी॥
ना ओहि पूत, न पिता, न माता।
ना ओहि कुटुंब न कोई सँग नाता॥
जना न काहू, न कोइ ओइँ जना।
जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥
ओइँ सब कीन्ह जहाँ लगि कोई।
वह न कीन्ह काहू कर होई॥

हुत पहिलेइँ औ अब है सोई।
पुनि सो रह हि रहहि नहिं कोई॥
अउर जो होइ सो बाउर अंधा।
दिन दुई चारि मरै करि धंधा॥
जो ओहि चहा सो कीन्हिसि,
करइ जो चाहइ कीन्ह।
बरजनहार न कोई,
सबइ चहइ जिउ दीन्ह॥

(स्तुति खंड-7)

एहि विधि चीन्हहु करहु गिआनू।
जस पुरान महँ लिखा बरवानू॥
जीउ नाहिं पै जिअइ गोसाई।
कर नाहीं पर करइ सबाई॥
जीभ नाहिं, गुनना सब बोला।
तन नाहीं, जो डोलाव सो डोला॥
सुवन नाहिं, पै सब कुछ सुना।
हिअ नाहिं, पै सब कुछ गुना॥
नैन नाहिं पै सब कुछ देखा।
कवन भाँति अस जाइ बिसेखा॥
ना कोई है ओहि के रूपा।
ना ओहि काहु अस तइस अनूपा॥
ना ओहि ठाउँ, न ओहि बिन ठाऊँ।
रूप-रेख बिनु निरमल नाऊँ॥
ना वह मिला न बेहरा,
अइस रहा भर पूरि।
दिष्टिवंत कह निअरे,
अन्ध मूरुख कहँ दूरि॥

(स्तुति खंड- 8)



त्याग के प्रतीक- महात्मा भरत

डा. मोना बाला

रामायण में उज्ज्वल पात्रों के बीच भरत का चरित्र सर्वाधिक महत्त्व का है। भरत के चरित्र में एक ही स्थल पर बुद्धि एवं हृदय का समन्वय दृष्टिगत होता है। भरत विवेकी, बुद्धिमान्, संयमी, धैर्यवान् तथा त्यागी हैं। रामायण में शुरू में ही बताया गया है-

भरतो नाम कैकेय्यां
जज्ञे सत्यपराक्रमः।
स ा क्षा ा द्
विष्णोश्चतुर्भागे
सर्वैः समुदितो गुणैः॥

(वा.रा.-1.18.13)

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में भरत के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

बिस्व भरन
पोषन कर जोई।
ताके नाम भरत अस होइ॥

(रा.च.मा.-1.196.4)

भरत के जन्म सम्बन्ध में रामायण में बताया गया है कि उनका जन्म पुष्य नक्षत्र में हुआ था तथा वे सदैव प्रसन्नचित रहते थे। काल एवं कथा के साथ ही भरत का चरित्र मुखर होने लगता है। भरत के शुरूआती जीवन के विषय पर

बड़ा सामान्य-सा प्रकाश डाला गया है लेकिन राम का वनवास एवं भरत का राज्याभिषेक ही वह बिन्दु है जो रामायण जैसे महाकाव्य में रोमांच एवं भारी उथल-पुथल का संचार कर देता है।

भरत का चरित्र

राम का प्रेमी चरित्र है जितना प्रेम राम के लिए भरत के हृदय में है उतना ही स्नेह राम के हृदय में भी उपस्थित है। भरत का राम सहित परिवार के प्रति एक विशेष अनुराग है भरत जब अपने ननिहाल से लौटे हैं तो उन्होंने सभी का कुशल-मंगल पूछा है-
सकल कुसल
कहि भरत
सु ना ई ।

पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥
कहु कह तात कहाँ सब भाता।
कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥

(रा.च.मा.- 2.158.4)

भरत का पिता के प्रति प्रेम हो अथवा माताओं के प्रति आदर कहीं भी यह नहीं दृष्टिगोचर होता है कि उन्होंने किसी एक से भी वैर रखा है। भरत ने सदैव हित एवं न्यायोचित व्यवहार का

रामचरित मानस न केवल उत्कृष्ण वैष्णव भक्ति काव्य है वरन् कर्मकुशलता, विचार विदग्धता का शिखर आरोहण भी है। डॉ० मोना बाला ने प्रस्तुत आलेख में भरत को 'महात्मा' संज्ञा से अभिहित कर मात्र एक शब्द से ही अपने कथ्य प्रतिपादन को सुकर बना दिया है। लेखक की लेखकीय विचारणा कल्पना चारुता ने बरबस यह सोचने को विवश कर दिया है कि अगर भरत का पावन चरित्र तुलसी रामायण में महाकवि की सिद्ध लेखनी से रूपायित न हुआ होता तो शायद रामचरित मानस भक्तों के हृदय को उतना छू नहीं पाता जितना सम्प्रति।

परिचय दिया है। सभी के साथ व्यवहार में वह संयत दृष्टिगत हुए हैं।

भरत ने कई बार राम को अपने पितातुल्य एवं अभिभावक बताया है राम के लिए कहे उनके वचन राम के प्रति उनकी प्रीति का परिचायक है-
**यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥**

(वा.रा.- 2.72.32)

भरत सदैव राम का आश्रय पाना चाहते हैं। वे राम के राज्याभिषेक के समर्थक रहे हैं, इस बात को उन्होंने बारम्बार इंगित किया है। ननिहाल से लौटे भरत जब कैकेय से मिले तब उन्हें पिता की मृत्यु एवं ज्येष्ठ के वनगमन की दुःखद सूचना प्राप्त हुई। समाचार प्राप्त होते ही वह एक आदर्श पुत्र एवं एक कुलीन धार्मिक की भाँति पितृशोक से सन्तप्त होते हैं इस शोक में भी भरत ने राम के अभिषेक का समर्थन किया है-

**अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृदृष्टो यात्रामयासिषम्॥**

(वा.रा.- 2.72.27)

कैकेय ने जब राम के वन गमन की बात बतायी है तब भरत के मन में राम के प्रति आशंका आयी है भरत के मन में राम के धर्मच्युत होने की शंका हुई है लेकिन इस आशंका के निर्मूल होने पर तथा सत्य का भान होने पर भरत न्यायी हो उठते हैं तथा इस अनर्थ के मूल में अपनी ही माता को पाते हैं। न्यायी भरत अपनी माता को कलंकिनी, पापिनी आदि अपशब्द कहते हैं एवं कैकेयी को धर्मच्युत बताते हैं। वास्तव में भरत ने बड़े कड़े शब्दों में अपनी माता के कृत की आलोचना की है-

**उत्पन्न तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता॥**

(वा.रा.-2.73.19)

राम के वन गमन से भरत शोक संतप्त हैं। एक महान् दुःख की परिधि में आए भरत के चरित्र पर बड़ा मोह आता है। इस महान् शोक के वश में आकर ही भरत अपनी माता के प्रति ऐसा व्यवहार करते हैं। वे अपनी माता के चरित्र को प्रश्न के घेरे में लाकर रख देते हैं-

धीरज धरि भरि लेहिं उसासा।

पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥

(रा.च.मा.- 2.160.2 का उत्तरार्ध)

भरत के ऐसे शब्द ही उनके न्यायी एवं धर्म उदात्त होने के प्रमाण उपस्थित करते हैं। कैकेयी से भरत ने कहा भी है-

जो हसि सो हसि बैठहि जाई॥

(रा.च.मा.- 2.161.4 का उत्तरार्ध)

भरत ने अयोध्या में अपने को बार-बार निर्दोष बताया है। उन्होंने मंत्रियों के समक्ष यह कहा है-

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम्॥

(वा.रा.- 2.75.2 का उत्तरार्ध)

पुनः वह कहते हैं-

अभिषेकं न जानामि योऽभूद्वाज्ञा समीक्षितः।

(वा.रा.- 2.75.3 का उत्तरार्ध)

जब कौसल्या ने भरत को निष्कण्टक राज्य मिलने की बधाई दी तब वे माता कैकेयी के क्रूर कर्म द्वारा अपने हित राज्य प्राप्ति की भर्त्सना करते हैं तथा भरत कौसल्या के चरणों में गिर कर अपने को निरपराधी बताते हैं-

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामेकल्मषम्।

विपुलां च मम प्रीतिं स्थितं जानासि राघवे॥

(वा.रा.- 2.75.20 का उत्तरार्ध)

कौसल्या के सामने भरत फूट-फूट कर रोते हैं। भरत की विह्वलता कष्ट देने वाली है। एक निरपराधी को जब परिस्थिति अपने कष्टकर पाश में बाँधती है, तो अपने को निर्दोष साबित करने की अकुलाहट जो व्याप्त होती है वही

आकुलता भरत में भी व्याप्त है। इस विशिष्ट परिस्थिति में भरत शोभित हुए हैं।

राजा दशरथ की अन्त्येष्टि हो जाने के पश्चात् मन्त्री के द्वारा भरत को राज्य ग्रहण करने का प्रस्ताव दिया जाता है। भरत बड़ी सरलता से इसे ठुकरा देते हैं, जो भरत के निर्लोभी होने का प्रमाण है-

**ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता ही कुलस्य नः।
नैवं भवन्तो मा वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः॥**

(वा.रा.- 2.79.7 का उत्तरार्ध)

भरत अपने ज्येष्ठ राम को वन से लौटाने की घोषणा करते हैं राम को वन से लौटाने के लिए वह अयोध्या से उस मार्ग की ओर गमन करते हैं जिसे मार्ग से राम का वन-गमन हुआ था।

भरत के तर्क एवं तत्कालीन अवस्था से राज्य के सभी लोग प्रभावित थे। भरत के तर्क का ही प्रभाव था कि तीनों माताएँ, राज्य के विशिष्ट व्यक्ति एवं सेना राम को वापस लाने हेतु वन गमन करते हैं। भरत अपने साथ सेना लेकर गए हैं जिससे कईयों को भरत पर आशंका होती है। तत्कालीन दशा में भरत के पक्ष में कई अपयश व्याप्त हैं। उन्हें तात्कालिक दशा दोषी मानती है इस कारण निषादराज गुह ने अपने बंधुओं को युद्ध के लिए तैयार रहने का निदेश दिया है। उसे आशंका है कि भरत राम की हत्या कर देंगे-

**सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम्।
भरतः कैकेयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति॥**

(वा.रा.-2.84.5)

जब निषादराज का भ्रम निर्मूल हुआ तब उसने भरत को आतिथ्य स्वीकारने का निवेदन किया। भरत का निषादराज की शंका पर दिया वचन उनके हृदय के शोक का प्रदर्शन है-

**या भूत्स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः॥**

(वा.रा.-2.85.9)

भरत और गुह के बीच की वार्ता में राम के प्रति चिन्ता का भाव प्रमुख है। गुह के द्वारा राम और लक्ष्मण वर्णन को सुन भरत मूर्च्छा की अवस्था को प्राप्त होते हैं इससे उनके अपार दुःख का पता स्वाभाविक रूप से चलता है। भरत गुह मुँह से राम से संदर्भित हर बात का विस्तृत वर्णन सुनते हैं जो भरत का राम के प्रति अगाध प्रेम का परिचायक है। भरत भारद्वाज से मिले हैं तथा उनकी आज्ञा पाकर राम के आश्रम की ओर बढ़े हैं। जब भरत के आने की सूचना राम और लक्ष्मण को मिली है तो लक्ष्मण आग बबूला दिखे हैं क्रोध के वशीभूत होकर भरत के प्रति रोषपूर्ण वचन कहे हैं एवं भरत के वध के लिए भी तत्पर दिखाई पड़ते हैं।

**सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि।
भरतस्य वधे दोषं नाहं ष्यामि राघव॥**

(वा.रा.-2.96.23)

लेकिन राम भरत के प्रति आश्वस्त दिखाई पड़ते हैं उनके मन में भरत के प्रति शंका नहीं है।

**किमत्र धनुषां कार्यमसिना वा सचर्मणा।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते॥**

(वा.रा. 2.97.2)

राम को भरत पर इतना विश्वास है कि वह यदि राम भरत को राज्य भी देने कह देंगे तो वह निसंकोच राज्य भी दे देंगे। राम का भी भरत के गुणों के प्रति अपार आग्रह दिखाई देता है। भरत जब राम के आश्रम पहुँचे हैं, तो वह राम, लक्ष्मण एवं सीता के दर्शन के लोलुप दिखाई पड़ते हैं। राम वनवास में वनवासी धर्म का पालन कर रहे थे भरत उनके कष्ट को देख नहीं पा रहे हैं तथा वे इस दशा के निमित्त स्वयं को दोषी ठहरा रहे हैं।

दुःखमितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वाऽऽर्येति सकृद् दीनं पुनर्नोवाच किंचन॥

(वा.रा.-2.99.38)

राम और भरत मिले हैं तो भरत के नेत्रों से आँसूओं की धारा चल रही है, भरत पृथ्वी पर गिर पड़े हैं-

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।

ददर्श रामो दुर्दर्श युगान्ते भास्करं यथा॥

(वा.रा.-2.100.1)

भरत का राम के प्रति जो प्रेम है उसकी चर्चा करते हुए तुलसीदास जी भाव-विभोर हो उठे हैं-

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे।

सहज सनेहु सराहन लागे।

होत न भूतल भाउ भरत को।

अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा.च.मा.-2.237..4)

श्री राम के द्वारा भरत से कुशल क्षेम के बहाने राजनीति की गूढ़ वार्ता हुई है जिसमें भरत के राजा होने के संकेत भी छिपे हैं। फिर भी भरत के द्वारा श्री राम को राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया गया है। प्रति उत्तर में राम ने स्पष्ट किया है कि चौदह वर्ष के बाद ही मैं पिता के राज्य का उपभोग करूँगा।

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः।

उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना॥

(वा.रा.-2.101.26)

भरत का बारम्बार राम से अयोध्या लौटने की याचना करना तथा राम का बार-बार प्रतिज्ञा-पालन की दृढ़ता दिखाना, वास्तव में एक-दूसरे के प्रति प्रेम का परिचायक है। भरत के मत का समर्थन वसिष्ठ, जावालि आदि करते हैं जो भरत के मनस्वी होने का प्रबल प्रमाण है। बड़ी मुश्किल से राम भरत को समझा-बुझा कर

अपनी चरण-पादुका दे कर भरत को अयोध्या लौटा देते हैं लेकिन भरत भी अपनी प्रतिज्ञा की मर्यादा बताते हुए कहते हैं कि राजगद्दी पर यह चरण-पादुका ही विराजेगी।

तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्र परंतप।

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥

(वा.रा.-2.112.25)

भरत भी चौदह वर्षों तक जटाधारी बनकर रहे तथा फलमूल ही खाया। राम के द्वारा बतायी राजनीति का पालन किया। भरत ने अपनी प्रतिज्ञा की दृढ़ता का मौन उदघोष किया है तथा वे अपने कृत से आदर्श एवं धर्म को एक साथ अलंकृत करते हैं। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न भरत शुद्ध एवं पवित्र चरित्र की प्रतिष्ठापना करते हैं। रामायण में वे त्याग की प्रतिमूर्ति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

डा. मोना बाला

द्वारा श्री राकेश कुमार
सरस्वती लेन, प. लोहानीपुर
पटना-3



समानोत्थानवादी सन्त कवि कबीर

□□श्री गौरीशंकर मिश्र

“नहीं फूलते कुसुम मात्र राजाओं के उपवन में,
अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुञ्ज कानन में।”

यद्यपि उपर्युक्त उद्गारोक्ति महाभारत के प्रतिनायक ‘कर्ण’ से सम्बन्धित है, किन्तु यह उक्ति निर्गुणोपासक सन्त कवि कबीर के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है।

कर्ण कुँवारी माता कुंती के गर्भ से जन्म लेता है। ‘कुलटा’ कहलाने के कलंक से बचने के लिए माता उसे मंजूषे में रखकर नदी में प्रवाहितकर कुलीन बनी राजमहल में लौट आती है। कर्ण सदा कुल गोत्रहीन कहलाकर भी अपने पौरुष, मैत्री एवं दान-धर्म की अमित

शाश्वत लकीर इतिहास पृष्ठों पर खींच गया।

कबीर का जीवन-चक्र भी कुछ ऐसा ही रहा। दोनों में फर्क सिर्फ यह कि कर्ण ने शक्ति का परचम लहराया और कबीर ने धर्म (भक्ति) का ध्वज फहराया।

किंवदन्ति है कि कबीर की जन्मदातृ कोई विधवा ब्राह्मणी थी। लोकापवाद के भय से वह

अपने सद्यःजात शिशु को नैश अंधकार में एक सूने सरोवर तट पर रखकर चली गयी। प्रातः भ्रमण के क्रम में एक निःसंतान मुसलमान जुलाहे दम्पति की दृष्टि सरोवर तट पर पड़े परित्यक्त

बालक पर पड़ी। वे बालक को खुदा का नेमत समझ उठा लाते हैं और उसका पालन-पोषण पुत्र की तरह करते हैं। वे उस बालक का नाम कबीर रखते हैं। कबीर का अर्थ है- श्रेष्ठ, महान्। बड़ा होकर वह बालक सचमुच महान् बना क्योंकि वह न तो हिन्दू बना, न मुसलमान, वह बना सच्चा ईश्वर-भक्त खालिस इंसान।

समय बीतता चला जाता है, उसके साथ-साथ समाज भी उत्थान पतन की राहों पर गिरता-उठता बढ़ता जाता है। जब समाज में विशृङ्खलाएँ चरम पर पहुँचती है तब समाज के सुधार के लिए युग पुरुष के रूप में महात्माओं, सन्त-मुनियों का प्रादुर्भाव हर धर्म में होता रहा है। कभी-कभी कोई सन्त ऐसा भी निकल आता है जो धर्म-सम्प्रदाय से ऊपर उठकर व्यापक सत्य का प्रतिपादन करता है। वह सभी धर्मों की अच्छाइयों की सराहना करता है और बुराइयों पर तीखा व्यंग्य भी। कबीर ऐसे ही एक निर्भीक सन्त हैं जो न हिन्दू हैं न मुसलमान; वे एक कट्टर समाज सुधारक हैं। श्री गौरी शंकर मिश्र का यह आलेख कबीर के उसी सत्य का उद्घाटन है।

हिन्दी साहित्य में काल-विभाजन के अनुसार कबीर का अविर्भाव भक्तिकाल (मध्य काल) में हुआ। उस समय भक्ति की दो प्रमुख धाराएँ प्रचलित थीं- सगुण भक्ति-धारा एवं निर्गुण भक्ति-धारा। कबीर निर्गुण भक्ति-धारा के सबसे बड़े सन्त कवि हुए। वे निरक्षर थे। उन्हीं के शब्दों में- “मसि कागद छुयो नहीं, कलम गह्यो

नहिं हाथा” कारण यह कि हिन्दू-मुसलमान दोनों उन्हें अन्त्य एवं त्याज्य मानते थे। उन्हें पढ़ाने के लिए न तो पाठशाला तैयार हुई न मदरसा। फिर, अगर दिनकर के शब्दों में कहें तो “जलद पटल में छिपा किन्तु रवि कब तक रह सकता है।” कबीर अक्षर ज्ञानी तो नहीं ही बन सके लेकिन एक महान् आत्मज्ञानी अवश्य हो गये। वे वेद-पुराण-कुरान में निहित धर्म सम्बन्धी गूढ़ से गूढ़ स्वानुभूत बातें पद्यवद्ध कर जनभाषा में कहा करते थे जिन्हें उनके भक्त लिपिबद्ध कर लिया करते थे। देखें कबीर की उक्ति, “तुम कहता सासतर का लेखा, मैं कहता आँखिन का देखा।”

मध्यकाल में हमारा समाज कई धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों-विकृतियों से आहत था। साम्प्रदायिक भेद-भाव, वर्णाधारित जन्मना ऊँच-नीच का भेद-भाव, पुरुष-नारी में श्रेष्ठता निकृष्टता की निन्दनीय कल्पना आदि कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति-उपासना के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ स्वरचित पदों-दोहों द्वारा मूर्ति-पूजा, आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड का विरोध किया और मुसलमानों में प्रचलित रोजा-नमाज की व्यर्थता को भी उजागर किया। इस सम्बन्ध में कबीर का विचार सुनें-

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़।
या ते वा चक्की भली पीस खाय संसार॥
काँकड़ पाथर जोरि के मस्जिद लिया चुनाया।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खोदाया॥

अरे अंध भक्तों, वह सब की बात सुनता-जानता है-

“चीटीं के पग पैजनी बाजत वो भी साईं सुनता है।”

उनके इस विरोध और प्रहार का मकसद था कि हिन्दू-मुसलमान धार्मिक अंधविश्वास एवं साम्प्रदायिक उन्माद से बचें। वे धर्म और भक्ति

के सच्चे स्वरूप को समझें और हिन्दू-मुसलमान भ्रातृवत् रहें। एक ही ईश्वर (खुदा) ने सबों को समान रूप से जन्म दिया है। फिर इनमें श्रेष्ठ-निकृष्ट का भेद-भाव कैसा? इस सिद्धान्त का सत्यापन कबीर की निम्नांकित उक्ति से हो जाती है-

“अल्ला एक नूर उपजाया ताकी कैसी निन्दा?
यही नूर ते सब जग कीया कौन भला को मंदा?”

कबीर ने कभी यह नहीं कहा कि हिन्दुओं को अपना धर्म छोड़कर मुसलमान हो जाना चाहिए अथवा हिन्दुत्व इस्लाम से श्रेष्ठ है। बल्कि वे तो हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर थे। संत कवि दादू दयाल के मतानुसार इनका भी सिद्धान्त था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों भाई हैं। दोनों समाज के हाथ-पाँव, आँख और कान हैं। जैसे शरीर के लिए दो हाथ, दो पाँव, दो आँख और दो कान आवश्यक हैं और किसी एक के बिना शरीर असक्त और विकृत हो जाता है, वैसे ही भारतीय समाज में भी हिन्दू या मुसलमान के आभाव या ऐक्य के बिना समाज भी असक्त और विकृत हो जाता है। ये तो हुई साम्प्रदायिक ऐक्य की बातें। अब मध्यकाल की अन्य बातें।

मध्यकाल में हमारा समाज सिर्फ साम्प्रदायवादी विषधरों से ही दंशित नहीं था प्रत्युत् समाज सदोष वर्ण-व्यवस्था से भी पीड़ित था। लोग जन्मना ऊँच-नीच के भेद-भाव में आकंठ डूबे थे। समाज के अधिकांश लोग अछूत और अधम माने जाते थे। उच्च वर्ण के लोग उनके साथ अमानवीय बर्ताव करते थे। समाज की यह वर्णव्यवस्था भी देश-समाज के लिए अमंगलकारी थी। कबीर ने लोगों को समाज में व्याप्त वर्णाधारित भेद-भाव को मिटाकर समतावादी दृष्टि अपनाने की कल्याणकारी सलाह दी। वे कुत्सित वर्ण व्यवस्था के मूल पर कुठारघात करते हुए कहते हैं-

तुम कत बाह्यन, हम कत शूद?
हम कत लोहूँ, तुम कत दूध?
जन्म शूद्र, मुए पुनी शूद्रा
कृत्रिम जनेउ घालि जग धुद्रा।”

कबीर समाज में व्याप्त किसी भी भेद-भाव के विराधी थे। उनकी दृष्टि सदा समतावादी और मानवीय रही।

मध्यकाल में नारी के सम्बन्ध में भी लोगों की धारणा अच्छी नहीं थी। अधिकांश तथा कथित धर्माचारी, जो स्वयं किसी-न-किसी नारी की ही संतान थे, नारी को हेय दृष्टि से देखते थे। वे नारियों को नर्क, नर्क का द्वार, छलना, माया, निकृष्ट त्याज्य कहते नहीं थकते थे। वे नारियों के साथ क्रूर बर्ताव करने में ही अपना पुरुषत्व समझते थे। कबीर ऐसे पशु पुरुषों की आँखों में ऊँगली कोंचकर कहते हैं कि पुरुष हो या नारी उसकी श्रेष्ठता या निकृष्टता, उसकी सोच, उसकी भावना उसके आचरण और उद्देश्य पर निर्भर करती है न कि सिर्फ नर-नारी होने पर। कबीर के अनुसार कोई भी नर या नारी 'सकाम' है तो वह नरक है। जो निष्काम है वही सच्चा भक्त है, यशस्वी राम का प्रिय और मुक्ति का परम अधिकारी है। गौर फरमाइये फक्कड़ कबीर की वाणी पर-

“नर-नारी सब नरक है जब लागि देह सकाम।
कह कबीर ते राम के जो सुमिरै निहकाम।”

इस प्रकार कबीर ने साम्प्रदायिक भेद-भाव, जातिगत-भेद-भाव, लिंगजनित भेद-भाव मिटाकर एक वर्णहीन-वर्गहीन समतावादी समाज-निर्माण की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया।

कबीर का समाज-सेवक रूप तो श्लाघनीय है ही, उनका धार्मिक और आध्यात्मिक रूप भी काबिले गौर हैं। यह तो पूर्वविदित है कि कबीर एक निर्गुणोपासक संत थे। उनके उपास्य राम हैं

जो त्रिगुणातीत, निर्विशेष, निराकार हैं। उनके राम सीतापति या दशरथ सुत नहीं हैं, प्रत्युत् वे हैं कण-कण, जन-जन वासी। वे न तो मन्दिरों में हैं, न मस्जिदों में, न काबे में न कैलास में। यथा-

“जउ खोदाय महजीद वसतु
और मुलुक केहि केरा।
तीरश मूरत रामनिवासी।
दुई में किन्हूँ न डेरा।।”
“ना मैं काबा, ना मैं काशी,
ना तीरथ कैलास में
खोजी होय तुरंते मिलि हौं,
पलभर की तालास में,
कहैं कबीर सुनो भाई साधो
सब साँसों की साँस में।

प्रायः एक प्रश्न रहता है कि कबीर ज्ञानाश्रयी थे या प्रेमाश्रयी। मेरे विचार से वे उभयाश्रयी थे। साधक ज्ञान का आश्रय लेकर भी गंतव्य तक पहुँच सकता है और प्रेम का आश्रय लेकर भी। अगर ज्ञान साक्ष्य सिद्ध हो, स्वानुभूत हो तब गंतव्य का मार्ग चिन्मय, प्रोदभाषित और सुगम हो जाता है, सत्य (ईश्वर) का साक्षात्कार हो जाता है। साधना संबंधी सारे विवाद मिट जाते हैं-

बिन साखी संसार का झगड़ा छूट नाहिं।

पुनश्च- “आतम ज्ञान बिना सब सूना,
क्या मथुरा क्या काशी।”

भक्ति में ज्ञान अपेक्षित है, पर प्रेम परम अपेक्षित है। जो समस्त चराचर से प्रेम करता है, वही पंडित है, ज्ञानी है। सुनिए कबीर की प्रेमोक्ति-

“पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ,
पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का
पढ़ै सो पंडित होय।”

कबीर की इन पंक्तियों में “आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः” का भाव निहित है जो शास्त्रोक्त है। सर्वतो भद्र है।

प्रेम वह रस-रंग है जो अपने रंग कर सब भेद-भाव मिटाकर सब को एक कर देता है। राजा-प्रजा तक की दूरी मिटाकर उन्हें एक धरातल पर खड़ा कर देता है, राजा प्रजा के लिए और प्रजा राजा के लिए प्राणोत्सर्ग तक कर देता है। कबीर के शब्दों में प्रेम-महिमा सुनिए और गुनिए-

**प्रेम न बारी, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-प्रजा जेहि रुचै, सीस दई लै जाय।।**

आस्तिक हो या नास्तिक, सगुन पंथी हो या निर्गुण पंथी, पीर हो या फकीर, गृहस्थ हो या संन्यासी प्रेम के प्रभाव को उसकी महिमा को व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में उसकी उपादेयता अस्वीकार नहीं कर सकता, वशर्ते कि वह वासनात्मक न हो। भला कबीर ऐसे ईश प्रेमी जो स्वयं को 'राम की बहुरिया' कहते हैं, प्रेम की महिमा को स्वीकार क्यों नहीं करेंगे। वे स्वयं निर्गुणोपासक थे पर गोपियों की प्रेमा भक्ति के कायल थे। देखिए एक बानगी, कबीर के ही शब्दों में-

**“कबिरा-कबिरा का कहै जा जमुना के तीर।
एक गोपि के प्रेम में बूड़ै लाख कबीर।।**

साथ ही मिथ्या प्रेम का एक नमूना निम्न है-
**प्रेम-प्रेम सब कोय कहै, प्रेम न जानै कोय।
आठ पहर जो नहि टिकै, प्रेम सो कैसे होय।।**

प्रेम होता है शाश्वत। जो प्रेम आठ पहर भी नहीं टिक सके, वह प्रेम हो ही नहीं सकता है। अब उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कबीर मुख्यतः भ्रमाश्रयी थे।

कबीर को अच्छी तरह समझने के लिए धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण एवं साधना विधि को जानना अपेक्षित है।

कबीर के अनुसार धर्म जीवन की एक धारणा है। सर्व हित में जो भी धारणीय है वही

धर्म है। सच्चे धर्म से किसी का अहित हो ही नहीं सकता। धर्म सिर्फ एक है। प्रेम, परोपकार, अहिंसा सब धर्म हैं। जीव मात्र से प्रेम करने वाला, किसी का अहित न करनेवाला अहिंसक ही सच्चा धर्मात्मा है। धर्म एक पावन जीवन विधान है, जीवन-पद्धति है।

कबीर थे सच्चे निःस्पृह कर्म योगी। उनके जीवन की हर क्रिया धार्मिक विधान है, साधना है। उनके अनुसार साधना निष्क्रिय नहीं होती। साधना के लिए किसी विशिष्ट स्थान की आवश्यकता नहीं। हमारा कर्म स्थल ही साधना गृह है और हर क्रिया-पूजा साईं के लिए, साईं को समर्पित है। यही कर्म, यही समर्पण, साधक को सिद्धि तक पहुँचता देता है। कबीर की साधना की एक विशिष्टता है सहजता। इस सम्बन्ध में कबीर की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

“साधो सहज समाधि भली।

गुरू परताप जा दिन ते उपजी,

दिन-दिन अधिक चली,

जँह-जँह डोलूँ सोइ परिकरमा,

जो-जो करूँ सो सेवा

जब सौवों तब करौं दंडवत,

पूजौं आन न देवा।

कहौ सो नाम, सुनौं सो सुमिरन,

खाऊँ पिऊँ सो पूजा

गिरह-उजाड़ एक सम लेखौं,

भाव न राखौं दूजा।।”

सुनिए, सहज समाधि की एक बात और,

“भोग में जोग और जोग में भोग।

“एक जोग में भोग है,

एक भोग में जोग।

एक बुड़हि वैराग्य में,

तरहि सो गिरही लोग।”

भोग और जोग का समन्वय। भोगमय योग की साधना। कबीर बौद्ध भिक्षुओं की तरह पलायनवादी नहीं थे, न मोहग्रस्त गृहस्त, न जंगल में धूनी रमानेवाले क्लीव संन्यासी। वे थे कर्म योगी गृही संन्यासी। उनकी साधना में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों का सामंजस्य है। प्रवृत्ति इस लिए कि आदमी डटकर काम करे। लेकिन अपनी कमाई पर एकाधिकार न जमाए, औरों के हित में त्याग भी करे। यथा-

“साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।

मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।।”

प्रवृत्ति और निवृत्ति का सटीक उदाहरण। अब कैसे साधु को भूखा न जाने दें। साधु की पहचान कैसे करें। कबीर ने सच्चे-झूठे साधु की पहचान के लिए कसौटी दी है, वह है-

“साधू सच्चा वही है, पेट समाता लेइ।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देह।
गाँठी दाम न बाँधई नहिं नारी से नेह।
कह कबीर ता साधु की हम चरनन की खेह।।”

निवृत्ति तो मानव-जीवन का सत्य है, प्रकृति प्रदत्त है, भले हम उसे झुठलाते रहें। सच तो है यह है कि एक दिन हमें सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ता है। साथ सिर्फ कुछ सूखी लकड़ियाँ ही जाती हैं। कबीर के ही शब्दों में-

हमको ओढ़ावे ‘निवृत्ति’ को जीवन काल में ही स्वीकार कर लेने का परामर्श दिया है। दिनकर ने भी इसी सत्य (निवृत्ति) को निम्नांकित शब्दों में घोषित किया है-

“दान प्रकृति का सहज धर्म है

मनुज व्यर्थ डरता है।

एक रोज तो हमें स्वयं

सब कुछ देना पड़ता है।।”

कबीर कोरे उपदेशक नहीं थे। उन्होंने स्वयं प्रवृत्तिमय निवृत्ति का जीवन जिया उनके सिद्धान्त क्रियाविहीन नहीं थे।

कबीर सांसारिक होकर भी सांसारिक माया-मोह से मुक्त थे। उनकी दृष्टि में संसार के सारे नेह-नाते माया ग्रथित हैं, भंगुर हैं। जब जीवन ही क्षण भंगुर है तो सांसारिक नाते-रिश्ते कैसे स्थाई हो सकते। यथा-

“घर की नारी को कहै तन की नाड़ी नाहे।”

देव ने दुर्लभ मानव तन पाकर भी सुर-नर-मुनियों यदा कदा महा ठगनी त्रिगुण फाँस में बँधकर क्षणिक सांसारिक सुख के लिए अपना तन-मन अपावनकर उसे (तन, कबीर के शब्दों में चादर) मैला कर दिया और कलंकित हुए। लेकिन गृहस्थ संन्यासी कबीर माया निकट रहकर भी माया मुक्त रहे, और निर्मल-निष्कलंक मानव तन त्याग कर महाप्रयाण किया-

झीनी-झीनी बिनी चदरिया,

यह चादर सुर-नर मुनि ओढ़ै,

ओढ़ के मैलो कीन चदरिया,

दास कबीरा जतन से ओढ़ै

जस के तस रख दीन चदरिया।

कबीर थे ऐसे समाज-सेवक, गृह संन्यासी, जो “अयं निजः परोवेति” की क्षुद्र गणना पूर्णतः मुक्त थे। देखिए-

कविरा खड़ा बजार में सब की माँगे खैर,

ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।

राग-द्वेष से मुक्त ऐसे उदारवादी प्रेयाश्रयी महा फकीर कबीर को कोटि-कोटि नमन।

गौरी शंकर मिश्र

सेवानिवृत्त शिक्षक



स्वास्थ्य-चर्चा

स्वस्थ जीवनशैली अपनायें और नीरोग रहें

डा० जितेन्द्र कुमार सिंह

अच्छा स्वास्थ्य सबसे बड़ा धन है। स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक है स्वस्थ जीवनशैली। इसके लिये जरूरी है स्वास्थ्य के प्रति **जागरूकता**। क्योंकि, अज्ञानतावश हम अपना खान-पान और ऐसी जीवनशैली को अपना लेते हैं जो हमें रोगी बना देता है। रोगग्रस्त तन-मन कभी सुखी नहीं रह सकता है। अतः जरूरी है कि हम जागें, अपने दोस्त, मित्र, सगे-सम्बन्धी और पास-पड़ोस को भी जगायें। जब जागृति आयेगी तभी स्वस्थ समाज और स्वस्थ देश का निर्माण होगा। अतः सबसे आग्रह है कि स्वस्थ जीवनशैली अपनायें और सदा स्वस्थ रहें।

स्वस्थ जीवनशैली अपना कर कैंसर जैसे रोग से भी बचा जा सकता है। लोगों में आम धारणा है कि कैंसर एक जानलेवा बीमारी है और यह बीमारी जिसे पकड़ती है उसकी मौत निश्चित है। लेकिन, समय के साथ-साथ यह धारणा अब बदलती जा रही है। अब लोगों में विश्वास जगा है कि कैंसर रोग ग्रसित मरीज का भी

इलाज होता है, इलाज के बाद लोग कैंसर से ठीक भी होते हैं, और इलाज के बाद सामान्य जिन्दगी भी जीते हैं।

महावीर मन्दिर द्वारा संचालित कैंसर संस्थान में किए गये आधुनिक शोध के आलोक में यह बात सामने आयी है कि संतुलित खान-पान, रहन-सहन अपनाकर रोगों से बचा जा सकता है और उनसे लड़ा जा सकता है। कुल मिलाकर स्वास्थ्य सम्बन्धी लेखक के विचार पठनीय एवं मननीय हैं।

लोगों की मानसिकता में बदलाव के पीछे कुछ वजह भी हैं जो निम्नलिखित है :-

WHO के आंकड़ों के अनुसार 33 प्रतिशत लोगों में कैंसर को होने से रोका जा सकता है और 33 प्रतिशत कैंसर को इलाज के द्वारा बिल्कुल ठीक किया जा सकता है, बशर्ते कि वे रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अस्पताल आयें। बाकी 33 प्रतिशत

कैंसर रोगियों का विभिन्न तरह के इलाज के द्वारा जिन्दगी बढ़ाई जा सकती है। विडम्बना ये है कि भारत जैसे गरीब और विकासशील देश में आज 85 प्रतिशत से 90 प्रतिशत कैंसर के रोगी, रोग की बढ़ी हुई अवस्था में अस्पताल आते हैं। जहाँ पूरी तरह से उन्हें ठीक नहीं किया जा सकता है।

यही वजह है कि कैंसर से प्रभावित लोगों की जब मृत्यु होती है तो यह धारणा बन

जाती है कि कैंसर होने पर लोग बचते नहीं हैं। महावीर कैंसर संस्थान में 3 लाख 23 हजार कैंसर के मरीजों को देखने से पाया गया कि केवल 8 से 9 प्रतिशत लोग ही रोग की प्रारम्भिक अवस्था में आते हैं। सबसे ध्यान देने वाली बात यह है कि शुरूआती दौर में कैंसर तकलीफ नहीं देता है और जब तकलीफ देता है तो उस समय तक बहुत देर हो चुकी होती है।

अच्छी बात यह है कि अब एक परिवर्तन आम लोगों की सोच में आ रहा है और लोग वैसा ही सोचने लगे हैं जैसा कि विदेशों में कैंसर को एक डायबिटीज एवं ब्लड प्रेशर जैसे क्रोनीक बीमारी की तरह समझते हैं। पहले मरीजों के परिजन कैंसर मरीज के बारे में पूछते थे कि यह कितना दिन बचेगा कुछ दशक बाद लोग यह पूछने लगे कि यह कैंसर का मरीज है, इसका इलाज चल रहा है। क्या इसकी शादी कर सकते हैं? भविष्य में शादी के बाद इनके बच्चों पर भी क्या बीमारी का असर पड़ेगा। इसीलिए लोगों की सोच में इस बीमारी के प्रति निश्चित रूप से बदलाव आ रहा है।

अब बात यह है कि इस बीमारी को होने से कैसे रोकें या प्रारम्भिक अवस्था में ही कैसे इसे पकड़ें?

प्रारम्भिक अवस्था में ही कैंसर का पता चल जाय इसके लिये आवश्यक है -

- समय-समय पर स्वास्थ्य की जांच कराते रहना।
- तम्बाकू या तम्बाकू से बने सामानों का उपयोग नहीं करना।
- फास्ट फुड या डब्बा बन्द खाना से परहेज करना।

- तली-भुनी एवं मसालेदार भोजन से परहेज करना।
- अधिक चर्बीदार भोजन नहीं करना।
- ताजे फल, हरी सब्जियाँ और रेशेदार भोजन करना।
- रासायनिक खाद एवं कीटनाशक दवाइयों के उपयोग वाले भोज्य पदार्थों से बचना।
- जिन फलों को पकाने के लिये कार्बाइड आदि का इस्तेमाल किया गया हो उससे सदैव दूर रहना
- अधिक मात्रा में पानी पीना तथा नित्य व्यायाम करना है।

अच्छा स्वास्थ्य केवल इच्छा से प्राप्त नहीं होता। इसके लिए तीन चीजों का होना आवश्यक है : अच्छी जीवनशैली, नियमित व्यायाम एवं पौष्टिक आहार।

इस संदर्भ में दो चीजें ध्यान देने की हैं- (1) कैंसर से बचाव की हम बात करें तो दो चीजें सामने आती हैं एक तो तम्बाकू और तम्बाकू से बने पदार्थ (2) कैंसर का HPV टीका। भारत सरकार के Tobacco Control Programme की बात करें तो प्रति वर्ष 12 लाख कैंसर के नये मरीज इस बीमारी से पीड़ित हो रहे हैं। **अगर तम्बाकू एवं इससे बने पदार्थों के सेवन पर पूरी तरह रोक लगा दी जाय तो 40 प्रतिशत कैंसर मरीजों की संख्या अपने आप कम हो जायेगी।** यह बहुत बड़ी बात है कि एक छोटी-सी बुरी आदत को त्यागने से कैंसर रोग में बड़ी तायदात में कमी लायी जा सकती है।

कैंसर के बचाव के लिये टीकाकरण- बच्चेदानी का कैंसर औरतों में सबसे ज्यादा पाया जाता है जो 32 से 34 प्रतिशत के लगभग

है, इससे मृत्यु भी सबसे ज्यादा होती है। **अगर इस टीका को छोटी बच्ची जो 11 साल से 21-22 आयु वर्ग की है और उसकी शादी नहीं हुई है; को लगाया जाय तो उसे जिन्दगी भर Cervix Cancer नहीं होगा।**

अभी अनेक प्रकार के कैंसर की टीकाओं पर विभिन्न तरह के प्रयोग हो रहे हैं जो बहुत जल्द ही मरीजों के लिए उपलब्ध हो जायेंगी। कैंसर के इलाज में समय का सबसे ज्यादा महत्त्व होता है रोजाना हजारों सेल कैंसर ट्यूमर से बनते रहते हैं और शरीर में ट्यूमर का लोड बढ़ता जाता है। यदि, ट्यूमर का इलाज आज से शुरू किया जाए तो उसे जो आज फायदा होगा उसे देरी से इलाज करके उतना फायदा नहीं दिया जा सकता। आज हर कैंसर सेंटर में छोटे या बड़े स्तर पर Community Center का गठन आवश्यक है; ताकि आम जनता को कैंसर के प्रति जागरूक किया जा सके या कैंसर के प्रति उनके ज्ञान को बढ़ाने एवं सुदूर देहातों में कार्य कर रहे डाक्टरों एवं हेल्थ वर्कर को भी कैंसर के बारे में ट्रेनिंग दी जा सके।



महावीर कैंसर संस्थान में स्थापित
भगवान् धन्वन्तरि की मूर्ति

वैसे तो इसका एक उपाय यह है कि लोगों का पूर्ण हेल्थ चेकअप या स्क्रीनिंग प्रोग्राम के तहत कैंसर को शुरूआती दौर में ही पकड़ा जाए। इसके लिये हर वर्ग के लोग अपना स्वास्थ्य जाँच अवश्य करायें ताकि कैंसर को प्रारम्भिक अवस्था में ही पकड़ा जा सके।

कुछ निम्नलिखित लक्षण पाए जायें तो उन्हें तुरन्त कैंसर के डाक्टर से सलाह लेनी चाहिए :-

1. यदि, कोई गिल्टी जो खत्म नहीं हो रही हो।
2. मस्सा जिसके आकार और रंग में परिवर्तन हो रहा हो।
3. दो मासिक धर्म के बीच में या मासिक धर्म के बाद पुनः रक्त स्राव होने लगे।
4. गुप्तांगो से उजला स्राव हो रहा हो या उससे खराब गंध आ रही हो।
5. मुंह या पैखाने के रास्ते से रक्त आ रहा हो।
6. अगर लगातार कमजोरी हो या बुखार ठीक नहीं हो रहा हो।
7. शौच की आदतों में परिवर्तन हो रहा हो। अर्थात्, बार-बार शौच जाने को मजबूर होना पड़े।
8. निगलने में कठिनाई हो रही हो
9. आवाज में परिवर्तन होता सुनाई दे और ठीक नहीं हो रहा हो।

यदि, ये लक्षण किसी भी रोगी को दिखें तो विशेषज्ञ डाक्टर से तुरन्त सलाह लेनी चाहिए।

ध्यान देने वाली बात

कैंसर के कारणों का अभी तक पूरी तरह से पता नहीं चल पाया है किन्तु कुछ तत्व ऐसे हैं जिनके सेवन से कैंसर होने की संभावना

अधिक रहती है। यदि, इन तत्वों से परहेज किया जाये तो कैंसर की संभावना को काफी



महावीर मंदिर पटना द्वारा स्थापित महावीर कैंसर संस्थान, फुलवारीशरीफ, पटना

हद तक रोका जा सकता है। **जैसे – धूम्रपान या किसी प्रकार का तम्बाकू का सेवन, शराब की आदत, चर्बीदार भोजन, स्तन पान नहीं कराने, मासिक धर्म 11 वर्ष से कम उम्र में ही शुरू हो जाने, कम उम्र में विवाह, ज्यादा बच्चे पैदा करने, बार-बार गर्भपात कराने, अनुवांशिकता के कारण तथा उम्र बढ़ने के साथ-साथ भी कैंसर होने का खतरा बढ़ जाता है।**

जहां तक धूम्रपान का सवाल है धूम्रपान से स्वास्थ्य, आयु, धन, चैन, चरित्र, विश्वास और आत्मबल नष्ट हो जाता है। इसके साथ ही दमा, कैंसर, हृदय के रोग एवं विविध बीमारियों का आगमन हो जाता है। 90 प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिता, भाई एवं मित्रों से धूम्रपान करना सीखते हैं। गुटखा सेवन से भारत में 13-14 वर्ष के बच्चों को भी कैंसर, फाइब्रोसिस, टी.बी. और कफ की शिकायत होती है।

कैंसर कभी भी छुआ-छूत की बीमारी नहीं है कैंसर के रोगी को छूने या उसके साथ एक ही थाली में खाने या एक साथ रहने, सोने से नहीं फैलता है। यदि परिवार में किसी को कैंसर हो गया है तो जरूरी नहीं है कि परिवार के अन्य सदस्य को भी कैंसर हो ही जाये।

कैंसर रक्त अर्थात् खून या फिर लिम्फ के द्वारा शरीर के अन्य हिस्सों के सम्पर्क में आता है और दूसरे अंगों को भी प्रभावित कर देता है।

कैंसर रोग का पता किसी विशेषज्ञ चिकित्सक से शारीरिक जाँच से या फिर उनके सुझाव पर कोल्पोस्कोपी, इण्डोस्कोपी, एक्स-रे, मैमोग्राफी, अल्ट्रासाउण्ड, सी. टी. स्कैन, एम. आर. आई. या कुछ प्रकार के रक्त की जाँच (ट्र्युमर मार्कर), एफ. एन. ए. सी. या फिर बायोप्सी से कैंसर होने का पता चलता है।

सही मायने में अगर देश की आनेवाले पीढ़ी को कैंसर जैसे रोग से बचाना है तो जरूरत है संकल्प लेने की, लोगों को जागरूक करने की, लोगों में व्याप्त भ्रम को दूर करने की। इस दिशा में और इस मुहिम को आन्दोलन का रूप देने में तमाम डाक्टर्स, कैंसर संस्थाएँ, स्वयंसेवी संस्थाओं और साथ-साथ सरकार को भी आगे बढ़कर हिस्सा लेने की जरूरत है। अगर सभी मिलकर कैंसर जागरूकता पर कार्य करें तो इस अभियान में हमें अवश्य ही सफलता मिलेगी। विकसित देशों में जागरूकता लाकर ही कैंसर की दर को कम किया गया है।

डा० जितेन्द्र कुमार सिंह



महाकाव्य-चिन्तन : आलोचक एवं रचनाकार के विचार

डा० पण्डित विनय कुमार

भारतीय महाकाव्य की परम्परा को विकसित करने में पौराणिक वाङ्मय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। महाकाव्यकारों ने पौराणिक आख्यानों (कथातत्त्व) के साथ-साथ पुराणों की शिल्प-विधि (शैलीतत्त्व) और वैचारिक निधि (विचारतत्त्व) को भी ग्रहण किया है। संस्कृत साहित्य में पौराणिक पात्रों और आख्यानों के आधार पर उत्कृष्ट कोटि की नाट्य-रचना और काव्य-सृजन हुये हैं। संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपाल-बध' एवं 'नैषधीय चरित्र' भी पौराणिक इतिवृत्तों पर आधारित हैं। पौराणिक शैली के महाकाव्यों की

अक्षुण्ण परम्परा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी मिलती है।¹ हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरितमानस' तो पौराणिक महाकाव्य है ही, भक्ति-परम्परा के अन्य महाकाव्यों पर भी पुराणों का प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक-युग में भी

पौराणिक उपाख्यानों एवं पात्रों पर अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग के 'प्रियप्रवास', 'साकेत-सन्त', 'कामायनी',

परम्परा से चली आती मान्यताएँ धीरे-धीरे टूटती हैं, चाहे वे कितनी अच्छी ही क्यों न हो, क्योंकि मान्यताएँ युग-सापेक्ष होती हैं, काल-सापेक्ष होती हैं। महाकाव्य लेखन की परम्परा अतीत काल से चली आ रही है। प्राचीन समय में इसकी कई शतें थीं जिनपर काव्य को खरा उतरना पड़ता था अन्यथा उसे असिद्ध, परिहासपूर्ण माना जाता था। वर्तमान समय में महाकाव्य विषयक पुरातन सारी रुढ़ियाँ बंद बक्से की चीज बन गयी है और नई मान्यताएँ स्थानापन्न हुईं। अलवत्ता यह कि डॉ० पं० विनय कुमार ने माना है कि उपन्यास ही अब महाकाव्य कहे जाने लगे हैं। यह उनका अपना विचार है। उनके इस मौलिक चिंतक पर विचारणार्थ सुधी जनों को यह आलेख पठनीय है।

'कृष्णायन', 'वैदही-वनवास', 'दैत्यवंश', 'अंगराज', 'रश्मिस्थी', 'सेनापति कर्ण', 'पार्वती', 'जयभारत', 'एकलव्य', 'उर्मिला', 'कैकेयी', 'तारक-वध', 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'रामराज्य', 'श्रीरामचन्द्रोदय' आदि महाकाव्यों की रचना का आधार पुराण ही है। इसी परम्परा की रचना श्री ताराचन्द्र हारीत रचित 'दमयन्ती' महाकाव्य है। 'दमयन्ती' महाकाव्य का कथात्मक आधार सुप्रसिद्ध नलोपाख्यान है। महाभारत के विभिन्न

आख्यानों में नल-दमयन्ती उपाख्यान सत्य, धर्म और सतीत्व के व्यावहारिक आदर्श का पावन प्रतीक है। इसीलिए नलोपाख्यान को लेकर विपुल साहित्य की रचना हुई है। संस्कृत के श्रीहर्ष (12वीं शताब्दी) कृत 'नलोदय'², वामनभट्ट (15वीं शताब्दी) कृत 'नलाभ्युदय'³ प्रसिद्ध महाकाव्य है।

संवत् 1990 में पुरोहित प्रतापनारायण कविरत्न (जयपुर निवासी) ने 19 सर्गों का 'नलनरेश' नामक महाकाव्य लिखा था।⁴ 'नलनरेश' महाकाव्य में काव्यशास्त्रीय लक्षणों का सतर्क अनुपालन होते हुए भी उसमें महाकाव्यात्मक औदात्त का अभाव है। सम्पूर्ण काव्य में इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य है। छायावाद-युग की रचना होते हुए भी 'नलनरेश' युग की काव्यात्मक प्रवृत्तियों के अनुरूप नहीं है। इस काव्य के लगभग 25 वर्ष बाद प्रकाशित होने वाली कृति 'दमयन्ती' महाकाव्य में निश्चय ही कवि ने आख्यान को युग की आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजित किया है। इस काव्य में नल और दमयन्ती के चरित्र राष्ट्रीय जीवन का सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

'दमयन्ती' महाकाव्य में रूढ़ काव्यशास्त्रीय लक्षणों का सामान्यतः निर्वाह हुआ है, किन्तु साग्रह या प्रयत्नज नहीं, स्वाभाविक रूप में। सम्पूर्ण काव्य 14 सर्गों में विभाजित है। कथानक पुराणसम्मत है। नाटकीय सन्धियों की सफल योजना है। बीच-बीच में अबान्तर कथा-प्रसंग भी प्राप्त है। महाकाव्य का नायक राजकुलीन नलनरेश है। यद्यपि दमयन्ती के चरित्र-विश्लेषण की दृष्टि प्रमुख होने से नायिका का व्यक्तित्व ही अधिक मुखरित हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य और जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। पौराणिक इतिवृत्त होने के कारण अतिप्राकृत कथातत्त्वों की भी अधिकता है। अलंकार-विधान, भाषा-सौष्ठव, रूप-संगठन और शिल्प-प्रयोग परम्परित और नवीन दोनों ही हैं। मंगलाचरण, छन्द-विधान (सर्गात् छन्द परिवर्तन) चतुर्बर्ग-फल-प्राप्ति, सज्जन स्तुति, दुर्जन निन्दा आदि महाकाव्य रूढ़ियों का भी विधिवत् पालन किया गया है। रस-परिपाक और भाव-चित्रण-कौशल भी सुन्दर बन पड़ा है। करूण रस के कतिपय

प्रसंग बड़े हृदयद्रावक हैं। सारांशतः 'दमयन्ती' महाकाव्य काव्यशास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से सफल रचना है। किन्तु किसी भी महाकाव्य का उपर्युक्त मूल्यांकन परिवर्तित काव्यशास्त्रीय मानदण्डों और युगीन काव्यादर्शों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं, अपूर्ण है। आज के महाकाव्यकार का दायित्व युग-जीवन की चेतना को आत्मसात् कर जीवन्त कथानक, महत्त्वपूर्ण नायक, गरिमामयी उदात्त-शैली और गम्भीर अभिव्यंजना-शैली के माध्यम से महदुद्देश्यों की सिद्धि है। हमारे युग-जीवन की समस्याओं का सांस्कृतिक समाधान और प्रश्नों का निदान आज के महाकाव्यकार की चेतना के मूल स्वर होने चाहिए। विज्ञान-युग के आणविक वैभव में काव्य-रचना एक सांस्कृतिक प्रयास बनकर ही अपना अस्तित्व-रक्षण कर सकती है। अन्यथा प्राचीन-आख्यानों की पुनरावृत्ति आत्मप्रवंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काव्य को संस्कृति की उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित करने के लिए महती काव्य-प्रतिभा, बलवती आत्म-प्रेरणा, समाज-चेतना और जीवन-साधना की आवश्यकता होती है, जैसा कि कविवर जयशंकर के व्यक्तित्व में थी। इसीलिए वह यन्त्र-युग की त्रस्त और परमाणु-युद्ध के भय से आक्रान्त मानवता को 'कामायनी' महाकाव्य के माध्यम से समरसता और आनन्दवाद का अमर सन्देश प्रदान कर सके। हम इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर 'दमयन्ती' के महाकाव्यत्व का परीक्षण करेंगे। मूल्यांकन के लिए हमारे पास तीन प्रमुख रचना-उपकरण हैं- कथातत्त्व, शिल्प-विधि और वैचारिकता। प्रश्न यह है कि इन उपकरणों के संगठन में हारीतजी ने किस सीमा तक पूर्ववर्ती लेखकों का अनुगमन किया कहाँ तक वह असम्पृक्त रहे और किस कोटि की मौलिक सूझ-बूझ का उपयोग कर उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

‘दमयन्ती’ महाकाव्य का कथात्मक आधार प्रसिद्ध पौराणिक वृत्त (नलोपाख्यान) है। अतः वस्तु अनुत्पाद्य है। किन्तु वस्तु के संयोजन एवं चयन में कवि की कल्पनाशक्ति सर्वथा श्लाघनीय है। घटना-व्यापार और सर्ग-विधान में परस्पर अन्विति और पूर्वापर प्रसंग-सम्बद्धता है। कथारम्भ युधिष्ठिर और पुरोहित के संवाद से होता है। धर्मराज अपनी व्यथा की चर्चा कर स्वयं को संसार का सबसे अभाग्य और दुर्दैवग्रस्त व्यक्ति कहते हैं। तभी पुरोहित नलराज की कथा का आरम्भ करते हैं। काव्य के आरम्भ की शैली पौराणिक है। काव्य का मंगलाचरण मातृभूमि की वन्दना से हुआ है जिससे कवि की राष्ट्रीय भावना प्रदर्शित होती है:

“धन्य धन्य हे अम्ब, भरत भू तुम हो धन्या।
हे मां! तुम सी नहीं विश्व में अन्या।।
मुकुट तुम्हारा हिमगिरि से शोभित होता है।
पाद तुम्हारे अम्ब स्वयं अम्बुधि होता है।।”

(प्रथम सर्ग पृ. 1)

तदन्तर कवि विश्व-जीवन की परिस्थितियों का उल्लेख करता हुआ निर्माण की प्रतिज्ञा करता है।

मानसकार तुलसी की भाँति कवि ने आर्ष कवि-वन्दना, दैन्य-प्रदर्शन, रचना-उद्देश्य आदि रुढ़ियों का निर्वाह भी किया है।

“धन्य! महाकवि व्यास!
प्रणति तुमको शत-शत है,
धन्य लेखनी मुने! तुम्हारी विश्वादृत है।
किन्तु हुए जो मनुज, विपद में पड़ ऊने से,
पढ़कर यह आख्यान, अभाव भरे यदि उनका।
हूँगा मैं कृतकृत्य, दुखौघ हरे यदि उनका।।”

(प्रथम सर्ग पृ. 1)

कथानक में वास्तविक गति पंचम सर्ग के उपरान्त आती है। सुरपति और अन्य देवगण नल

को ससैन्य दमयन्ती के स्वयंवर के लिए जाते देखकर मार्ग में उससे इस बात का वचन ले लेते हैं कि वह उनका दूत बनकर दमयन्ती के पास जाय और उसे देवताओं को वरण करने के लिए उद्यत करे। सत्यव्रती और धर्मनिष्ठ नरेश धर्म-संकट में पड़ जाता है। मनःसंघर्ष करता, परिस्थिति-द्वन्द्व से जूझता वह दमयन्ती के पास जाकर सभी देवताओं के वैभव का विराट् वर्णन कर दमयन्ती से देवों को वरण करने का आग्रह करता है। किन्तु दमयन्ती दृढ़प्रतिज्ञ रहती है। तदुपरांत स्वयंवर हो जाता है। नल ही दमयन्ती को पाते हैं। कलि इसे देवापमान समझकर नरेश के सर्वनाश पर तुल जाता है। फिर घूत-क्रीड़ा में छद्म से नल को राज्य से निर्वासित होना पड़ता है। आगे की सारी कथा गतानुगतिक है। कथानक में पौराणिक मान्यताओं को ज्यों-का-ज्यों ग्रहण किया गया है। जैसे कठिन-सी-कठिन विपत्ति में भी नरेश को धर्मनिष्ठ तथा दमयन्ती को कर्तव्यपरायण चित्रित किया गया है। सत्य, धर्म और कर्तव्य की त्रिवेणी का समस्त काव्य में अपूर्व प्रवाह है। नल का व्यक्तित्व भी महान् है-

“देव सम उसका कान्त शरीर,
सकल गुण मुक्त धीर, वर-वीर,
वृहद युग लोचन विस्तृत भाल,
युगल भुज है आजानु विशाल।
बने वे बल के अनुपम कोष, वक्ष
हिम गिरि सा है निर्दोष,
हृदय है अतुल धैर्य का स्थान,
और ग्रीवा है सिंह समान।”

(द्वितीय सर्ग पृ. 23)

दमयन्ती के नख-शिख-वर्णन में उपमाएँ परम्परित ही हैं-

“नाक शुक सी, वदन मध्य रदावली,
भर रही ज्यों शुक्ति में मुक्तावली।

चिबुक परम मनोज्ञ विस्तृत भाल है,
अक्षियों पर पक्ष्म का घट जाल है।
पूर्ण मुख, पूर्णेन्दु सा लगता अहा,
है सुधा सौन्दर्य, जो बरसा रहा॥”

(प्रथम सर्ग, पृ. 6, 10)

नख-शिख-वर्णन की अपेक्षा प्रकृति-वर्णन में कवि अधिक सफल रहा है। प्रकृति को मानवीय, उपदेशात्मक, उद्दीपन, आलम्बन आदि सभी रूपों में चित्रित किया गया है। एक उदाहरण देखिए-

“चल पड़ी रात नभ वदन हुआ पीला-सा,
पृथ्वी अंचल पर हरित हुआ गीला-सा।
वह सुअभिसारिका गयी, चिह्न ये छोड़े,
हतप्रभ से तारे उसे पकड़ने दौड़े।
मूर्च्छित सा विधु हो गया न वह सह पाया,
आ पहुँचा मन्द समीर देख मुसकाया।
वह व्यजन डुलाने लगा गन्ध से सींचा।
हो विवश तिमिर ने हाथ धरा से खींचा।
उदयाचल पर रवि चढ़े दृष्टि दौड़ायी,
तब गीली आँखें उन्हें धरा की पायी।
मुख पीछ दिया कर बढ़ा धरा मुसकायी,
खोची-सी अपनी शक्ति शीघ्र ही पायी।”

(चतुर्थ सर्ग, पृ. 58)

आज गद्य का युग है। गद्य युग का महाकाव्य उपन्यास ही कहा जाता है। प्रो. टिलियार्ड का अभिमत है कि अठारहवीं शताब्दी से महाकाव्य-लेखन की परम्परा ही लुप्तप्रायः हो गयी थी। मानव-ज्ञान के चेतना-स्तरों का इतना व्यापक प्रसार हुआ कि होमर और दाँते जैसे महाकाव्यकारों की भाँति समस्त समाज का चित्रण दुःसाध्य हो गया। साहित्य के व्यापक-से-व्यापक रूप में भी जीवन के विशेष पक्ष का ही चित्रण सम्भव हो सका। मध्ययुगीन समाज का चित्रांकन उपन्यास में हुआ। 16वीं शताब्दी में महाकाव्य

का रूप उपन्यास में ही परिवर्तित हो गया।⁵ फिर भी बहुत बड़ी संख्या में महाकाव्यों का सृजन हो रहा है। सन् 1914 से अद्यावधि हिन्दी में ही अनेकों महाकाव्य लिखे गये हैं।⁶ यद्यपि इनमें से अधिकांश केवल नाम के ही महाकाव्य हैं।

दूसरे शब्दों में इन काव्यों के रचयिताओं ने महाकवि की उपाधि के लिए कतिपय रूढ़ शास्त्रीय लक्षणों का सफल निर्वाह कर रचना को महाकाव्य कह दिया है। तथापि इसी युग में उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य भी लिखे गये हैं। कविवर जयशंकर प्रसाद कृत ‘कामायनी’ महाकाव्य इस युग की अनन्यतम कृति है, जिसमें मानवता के जनक मनु के पौराणिक इतिवृत्त को सूत्र रूप से लेकर विराट् कल्पना और काव्य-प्रतिभा के प्रश्रय से मानवोत्पत्ति एवं विकास का अद्भुत चित्रांकन हुआ है। ‘कामायनी’ काव्य समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है जिसमें मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्व, हृदय-बुद्धि के संघर्ष, प्रकृति के प्रेम और प्रकोप, वृत्तियों के स्वार्थ और प्रवंचना, अर्थ-लोलुपता और काम-वासना, शोषण और द्रोह, नारी दौर्बल्य एवं अदम्य उत्साह आदि अनेक युगीन समस्याओं का समुचित समाधान एवं व्यावहारिक निदान प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए प्रसादजी हमारे युग के महान् काव्यकार और ‘कामायनी’ महान् रचना मानी जाती है।

डॉ. रामानन्द तिवारी ‘भारतीनन्दन’ विरचित ‘पार्वती’ महाकाव्य भी इसी समृद्ध साहित्यिक परम्परा की रचना है। इस काव्य में भी युगीन जीवन-चेतना की विराट् व्यंजना हुई है। ‘पार्वती’ में भारतीय संस्कृति के आदर्श स्वरूप का व्यापक चित्रण हुआ है। पार्वतीकार ने विज्ञान युग की दिग्भ्रान्त मानव जाति के प्रति शिव संस्कृति का संदेश प्रसारित कर स्वस्थ मानवतावादी जीवन-मूल्यों

की स्थापना का सफल प्रयास किया है। धर्म और नीति अर्थात् सत्व, शील और नय भारतीय संस्कृति के अनिवार्य उपकरण है। 'पार्वती' काव्य में इन स्थायी जीवन-मूल्यों (सत्व, शील और नय) का महिमामय महत्त्वांकन और प्रतिपादन हुआ है।

आधुनिक युग के हिन्दी महाकाव्यों में आकार की दृष्टि से 'पार्वती' सर्वाधिक बृहदाकार रचना है। 'पार्वती' महाकाव्य का कथात्मक मूल आधार शैव पुराण हैं। कथात्मक संयोजन की दृष्टि से पार्वतीकार ने कालिदास के 'कुमारसम्भव' का अनुकरण किया है। 'पार्वती' के प्रथम 17 सर्गों के 'कुमारसम्भव' के 17 सर्गों की सम्पूर्ण कथा गृहीत की गयी है। 'पार्वती' महाकाव्य के प्रथम 17 सर्गों को काव्य का पूर्वाङ्क कह सकते हैं। उत्तरार्द्ध खण्ड में प्रौढ़ कवि-कल्पना, विलक्षण काव्य-प्रतिभा, भाव-सौन्दर्य, रस-परिपाक, कलात्मक कौशल और प्रबन्धात्मकता द्रष्टव्य है। साथ ही मौलिक सृजन-प्रतिभा, कलात्मक औदात्य, वैचारिक निधि और भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से भी काव्य का उत्तरार्द्ध (सर्ग 18 से 27) महत्त्वपूर्ण है। 'पार्वती' महाकाव्य के अन्तिम 10 सर्ग निश्चय ही कवि की चरम साधना के ज्वलन्त प्रतीक हैं। इन सर्गों में कवि के अध्ययन, मनन और चिन्तन ने जीवन-दर्शन के रूप में ढलकर बलवती प्रेरणा का रूप ग्रहण कर लिया है। शैवागमों के निगूढ़ अध्ययन और तत्त्व दर्शन ने शिव संस्कृति के रूप में एक महान् उपलब्धि करायी है। पार्वतीकार की शिव संस्कृति विषयक परिकल्पना नितान्त मौलिक, उपादेय एवं युगानुरूप है।

महाकाव्य महान् उद्देश्य और जीवन-दर्शन से अनुप्रमाणित रचना होती है। भारतीय काव्याचार्यों

ने महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग फलप्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि तथा रसात्मकता माना है। किन्तु वर्तमान युग-जीवन के सन्दर्भ में मात्र इन्हें ही महाकाव्य का लक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है। महान् उद्देश्य से अभिप्राय महाकाव्य सर्जन के लिए रचयिता की अन्तरात्मा में किसी महान् प्रेरणा का आविर्भाव भी है। प्रेरणा का स्रोत जीवन की कोई भी घटना, परिस्थिति अथवा वस्तु हो सकती है किन्तु कवि का कौशल उस प्रेरणा-प्रभाव को विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने में है। आज की प्रत्येक काव्य-रचना सोद्देश्य है। आज यह मान्यता बलवती है कि काव्य-रचना लेखक के लिए आत्मतोषी या स्वातः सुखाय न होकर जाति, समाज और विश्व-जीवन की मनःतुष्टि के लिए होनी चाहिए। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का यह कथन प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि- "मानवता को अशक्ति से शक्ति, अशान्ति से शान्ति और नीचे से ऊँचे ले जाना ही... वस्तुतः महाकाव्य के अन्य लक्षणों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण माना जा सकता है। इसी में उसकी वास्तविक महत्ता होनी चाहिए।" अस्तु!

महाकाव्य के उद्देश्य की महत्ता और उसकी सिद्धि के लिए आवश्यक है कि महाकाव्य कही जाने वाली प्रत्येक रचना में-

- (अ) मानवतावादी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हो;
- (ब) युगीन जीवनदर्शनों की प्रतिष्ठा हो;
- (स) रचना का सांस्कृतिक उन्नयन में योगदान हो;
- (द) उन्नत विचार-दर्शन (जीवन-दर्शन) हो;
- (प) संजीवनी शक्ति प्रदान करने की क्षमता हो।

डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने महाकाव्य के विकासक्रम को निम्न प्रकार से माना है*-

1. सामूहिक गीत नृत्य (कोरल, म्यूजिक एण्ड डान्स)

2. आख्यान नृत्य गीत (बैलेड डान्स)
3. आख्यान और गाथा (लेज एण्ड बैलेड्स)
4. गाथा-चक्र (साईकिल आफ बैलेड्स)
5. प्रारम्भिक महाकाव्य
6. अलंकृत महाकाव्य

महाकाव्य के विकास की ये स्थितियाँ स्पष्ट द्योतित करती हैं कि महाकाव्य के विकास की जड़ें समाज की प्रारम्भिक अवस्था में ही जम चुकी थीं। डिक्सन का मत है कि महाकाव्य, जो कला का सर्वोच्च विकसित रूप है, समाज की शिशु-अवस्था में गीतों से ही प्रारम्भ हो गया था।”

इन सब उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विविध साहित्य-रूपों में महाकाव्य पुरातन है। हाँ, समय-चक्र के घूर्णन और गति के अनुसार उसके आकार-प्रकार, स्वरूप-संगठन, लक्षण और मान्यताओं में परिवर्तन होता रहा है। किन्तु महाकाव्य का अस्तित्व और परम्परा अक्षुण्ण हैं। महाकाव्य की रचना के पीछे युग-जीवन के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा होती है। प्रत्येक युग में महाकाव्यों की रचना हुई है। महाकाव्य का लेखक महाकवि होता है। काव्य में 'महा' विशेषण का प्रयोग उसकी काव्य रूपात्मक सर्वोपरिता का ही प्रमाण है। महाकाव्य साहित्य-विशेष की प्रगति के परिचायक और समृद्धि के प्रतीक माने जाते हैं। हिन्दी के सहस्र वर्षों में 'पृथ्वीराजरासो', 'रामचरितमानस', 'पद्मावत', 'कामायनी' और 'पार्वती' जैसे काव्य हिन्दी साहित्य की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

हिन्दी का वर्तमान युग गद्य का युग है। विज्ञान की प्रगति, बौद्धिक चेतना के विकास, प्रेस के प्रचलन, परिवहन की सुविधाओं और वैचारिक आदान-प्रदान का सशक्त माध्यम होने

के कारण पिछले पाँच दशकों में गद्य साहित्य का अपूर्व विकास और प्रगति हुई है। यह नाटक, निबन्ध और आख्यायिका आदि प्रचलित गद्य-रूपों के अतिरिक्त भी उपन्यास, एकांकी, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, वार्ता, रेडियो रूपक, संलाप, समालोचना, डायरी लेखन, पत्रकारिता आदि अनेक नवीन विधाओं का उद्भव और विकास हो रहा है। इन्हें नवीन गद्य रूपों में स्वीकृति भी मिल चुकी है। गद्य की इस अभूतपूर्व प्रगति को देखकर कतिपय विद्वान् यह कहने के लिए बाध्य हैं कि गद्ययुग का महाकाव्य उपन्यास ही है। महाकाव्य-सृजन की अनुपयुक्तता के बारे में और भी तर्क दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

- (1) महाकाव्य का कथात्मक आधार लोकविश्रुत, ऐतिहासिक या पौराणिक उपाख्यान होते हैं। किन्तु विश्व जीवन की जटिलतर परिस्थितियों ने मानवीय संवेदनाओं में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया है।
- (2) कविता की ओर से जनरूचि का निरन्तर ह्रास हो रहा है। गद्य की सरलता, स्वाभाविकता और दैनिक जीवन की वास्तविकता का नैकट्य काव्य में नहीं है। फिर महाकाव्य में तो विराट् कल्पना, गम्भीर व्यंजना और महान् शिल्पविधि का अनुसरण किया जाता है जो वर्तमान जनरूचि के प्रतिकूल है। फिर इतने बड़े-बड़े काव्यग्रन्थों के अध्ययन-अनुशीलन के लिए पर्याप्त समय भी आज के पाठक को प्राप्त नहीं। आज साहित्य का पठन-पाठन प्रमुखतः मनोरंजन के लिए होता है जिसके लिए गद्य का कथात्मक रूप या ललित काव्य रचनाएँ ही उपयुक्त हैं।

(3) रचना-क्रम की दृष्टि से भी महाकाव्य के निर्देशित लक्षणों का निर्वाह आज के साहित्य-रचना-शिल्प की दृष्टि से अनुपयुक्त ही नहीं, निरर्थक भी है। उदाहरण के लिए छन्द-विधान महाकाव्य का अनिवार्य लक्षण है। किन्तु गद्य-युग में यदि काव्य का अस्तित्व शेष है तो मुक्तक काव्य के रूप में- और मुक्तक के लिए छन्दों का बन्धन नहीं माना जाता है। प्रो० आनन्दनारायण का मत है- “...जीवन की वास्तविकता पर सांगीतिक छन्दों की झिलमिलाहट एवं स्वप्निल और रोमानी चूर्ण का छिड़काव अधिक समय तक नहीं कर सकेगी। अतः महाकाव्य जब तक छन्दों के केंचुल को निर्ममतापूर्वक उताकर न फेंके, जैसा कि अल्याधुनिक मुक्तक कविता ने किया है, अथवा वह युग की जटिल संवेदना एवं गद्यात्मक रूक्षता को व्यक्त करने के लिए कोई नवीन और सशक्त माध्यम न ढूँढ़ निकाले, तब तक प्रचलित छन्द-विधान यथार्थ को नये सन्दर्भ में तीव्रता से पकड़ पाने में बाधक ही सिद्ध होता रहेगा।

अस्तु, इन सारी विचिकित्साओं का निष्कर्ष यही है कि आज की परिस्थितियाँ महाकाव्य-प्रणयन के एक दम अनुकूल नहीं रह गयी हैं।¹⁰ गद्य-युग की कविता भी गद्य कल्प हो गया है। गद्यकाव्य एक काव्य रूप भी है।

वर्णन वैविध्य, जिसे पाश्चात्य एवं पौराण्य आचार्यों ने महाकाव्य की अनिवार्य मान्यता के रूप में स्वीकार किया है, भी आज सम्भव नहीं है। क्योंकि आज मानवीय ज्ञान के चेतन स्तरों में इतनी विस्तृति आ

गयी है कि कोई भी महाकवि समस्त जीवन-बोध को रूपायित करने में सक्षम नहीं हो सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता और वैचारिक आदान-प्रदान से समाज के स्वरूप का भी विस्तार हुआ है। आज होमर और दौंते जैसे महाकाव्यकारों ने भी जैसे समाज की कल्पना की थी वह समाप्त हो गयी है। आज महान् साहित्य को भी जो विश्वजनीन होने का दावा करता हो, परिस्थितिवश किसी न किसी सीमा तक विशिष्ट ही बनना पड़ता है, सर्वव्यापी नहीं। और इसी कारण मध्यवर्गीय जीवन के चित्रक उपन्यास का विकास हो रहा है। 16वीं शताब्दी तक महाकाव्य की धारा का लोप उपन्यास के प्रवाह में हो गया।¹¹ इसी प्रकार आज व्यक्ति-पूजा का युग नहीं। अतः महाकाव्य की नायक विषयक परिकल्पना भी युगीन जीवनादर्शों के प्रतिकूल है। यही स्थिति महाकाव्य के अन्य लक्षणों के सम्बन्ध में भी है। अस्तु, महाकाव्य के आदर्श ही आज के काव्य-शिल्प की दृष्टि से अग्राह्य, अमान्य और अनपेक्षित हो गये हैं।

(4) गद्य-युग का महाकाव्य उपन्यास है। डॉ. देवराज उपाध्याय का तो मत है कि उपन्यास कोई नव-आविष्कृत साहित्यिक विधा न होकर प्रबन्ध काव्य और रोमांस का परिष्कृत स्वरूप है।¹² वस्तुस्थिति तो यह है कि विज्ञान युग के प्रभाव से आवृत्त मानव अन्तर्मन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में अपने रूप को ही उपन्यास में अर्पित कर दिया है। आज का उपन्यासकार जैसे भी हो मानव मन के संघर्ष और अंतश्चेतना-विकास को कृत के माध्यम से व्यंजित करना

चाहता है। श्री रामधारीसिंह दिनकर का तो मत यह है कि “जो काम पहले महाकाव्य करते थे, वही काम बाद नाटक और उपन्यासों द्वारा किया जाने लगा। अतएव, हम देखते हैं कि बाद के साहित्य में बहुत से नाटककार और उपन्यासकार हुए, जो अगर कवि होते, तो उनका स्थान रामायण और महाभारत, इलियड और ओडेसी के रचयिताओं के समकक्ष होता। नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ, उपन्यास लेखक रोमरौला और गोर्की-इनमें से प्रत्येक ने अपने समय की महान् समस्याओं के भीतर पैठकर उनका निदान खोजने की कोशिश की है। और प्रत्येक ने अपने क्षेत्र में वही काम किया है जो महाकाव्यों के कवियों द्वारा किया जाता है। जर्मन कवि गेटे और जर्मन दार्शनिक नीत्से की रचनाओं में भी हम महाकाव्य की ही झाँकी पाते हैं।”¹³

- (5) महाकाव्य की रचना का युग शान्तिकाल ही होता है- चाहे उसका विकास वीरयुग के वातावरण में ही हुआ हो; जैसे महाभारत, पृथ्वीराजरासो आदि विकसनशील महाकाव्य (Epic of Art) तो शान्तिकाल में ही सम्भव होता है।
- (6) महाकाव्य, महाकाव्य होता है, उनका रचयिता महाकवि होता है, उसका नायक महान् होता है, उसकी शैली गरिमापूर्ण, कल्पना विराट्, अभिव्यंजना गम्भीर, जीवन की बलवती प्रेरणा और उद्देश्य महान् है। किन्तु आज की जनतन्त्रीय समाज व्यवस्था के युग में व्यक्तिपूजा या महाजनों की महिमा युगविरोधी भावना की परिचायक है, हास्यास्पद है। आज राजकुलीन सामन्त या राजा-रानी ही नायक के रूप में मान्य

नहीं हो सकते। आज के साहित्य में कृषक, श्रमिक, और दलित-गलित वर्ग के लोग भी नायक हो सकते हैं। आज की रचना आवश्यक नहीं महान् उद्देश्य से ही अनुप्राणित हो। समाज की किसी एक समस्या, अन्तर्मन के द्वन्द्व की व्यंजना, वेदना के एक क्षण की विवृत्ति, सामान्य और असामान्य घटनाएँ-सभी काव्य-रचना के उपकरण और उद्देश्य हो सकते हैं। महाकाव्यकार लक्षणों के बन्धन के कारण चित्रण के स्वातन्त्र्य का अनुकरण नहीं करता है। इसके विपरीत, उपन्यासकार साहित्य-शिल्प के किसी विशेष आग्रह को स्वीकार नहीं करता है। अतः उपन्यास समाज की सरल और सशक्त सभी संवेदनाओं को साकार करने में सक्षम और सामर्थ्यवान् है। उपन्यास की उत्तरोत्तर लोकप्रियता, बढ़ती माँग, अत्यधिक लेखन और प्रकाशन इसके ज्वलंत प्रमाण है।

यही सब तर्क महाकाव्य-सृजन की अनुपयुक्तता के विषय में दिये जाते हैं। हम इन्हीं तार्किक स्थापनाओं के परिपार्श्व में महाकाव्य-सृजन की सार्थकता, सम्भावना और उज्ज्वल भविष्य पर विचार करेंगे।

युग गद्य का हो या पद्य का, कला का हो या राजनीति का, वैज्ञानिक के प्रभुत्व का हो या दार्शनिकों के वैचारिक आधिपत्य का-किन्तु मानवीय संवेदनाएँ, मनोवृत्तियाँ और अन्तः प्रवृत्तियाँ सदैव ही, सभी परिस्थितियों में अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहती हैं। इसी आकुलता का परिणाम काव्य है।¹⁴ काव्य आत्मा का संगीत है। प्राणों की पुकार है। वही परिस्थितियों का परिणाम भी है और एकान्त की परिकल्पना भी। इसीलिए काव्य की स्रोतस्विनी मानव जीवन की सरसता के लिए

सदैव से ही वांछनीय रही है। इसीलिए काव्य-रचना प्रत्येक युग में होती रही है। काव्य की उपयोगिता और आवश्यकता पर प्रश्नवाचक चिह्न किसी भी काल, युग या परिस्थिति में नहीं लगा है। महाकाव्य काव्य का उदात्त रूप है। महाकाव्य-सृजन की सम्भावनाओं का प्रश्न मानव चेतना की विकासशील परिस्थितियों से जुड़ा है। कला और काव्य के विकास के साथ-साथ महाकाव्य का भी विकास स्वाभाविक है। अतः महाकाव्य का निरन्तर सृजन हो रहा है।

महाकाव्य सृजन की सम्भावना पर कथात्मक दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों का यह तर्क नितान्त सम्मत नहीं प्रतीत होता कि विज्ञान युग का पाठक महाकाव्य के लोकविश्रुत, ऐतिहासिक और पौराणिक कथा-विधान से अपनी बौद्धिक चेतना की परितृप्ति और विश्वास को संबल नहीं दे सकता। वास्तव में महाकाव्य की कथा में ही नहीं अपितु सभी मान्यताओं में आमूल परिवर्तन हो गया है। आज आवश्यक नहीं कि महाकाव्य की कथा इतिहास-पुराण-उद्भूत ही हो। वर्तमान युग के अनेक महाकाव्यों¹⁵ में अति अर्वाचीन एवं समसामयिक कथा-तत्त्व का भी उपयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त आधुनिक महाकाव्यों में इतिवृत्त तो सूत्ररूप में ग्रहण किया जाता है- कवि की कल्पना शक्ति ही प्रमुख होती है। उदाहरण के लिए कामायनी महाकाव्य में मनु-श्रद्धा का उपाख्यान सूत्ररूप में ही ग्रहण किया गया है, किन्तु उसमें व्यक्त भावनाएँ और संवेदनाएँ हमारे युग जीवन का विराट् चित्र अंकित करती है। कामायनी का मूल स्वर मानवता की विजय, आनन्दवाद और समन्वयवाद हैं। कथात्मक रूप से यह समन्वय श्रद्धा और इड़ा का मनु के जीवन में है किन्तु वास्तव में समन्वय की आवश्यकता की ओर संकेत कामायनीकार ने

हमारे युग की परिस्थितियों के अनुरूप किया है। अर्थात् समन्वय की व्यंजना शासक और शासित, शोषक और शोषित, धनिक और श्रमिक, स्त्री और पुरुष, बुद्धि और हृदय की है। मैं समझता हूँ कि कामायनी में विज्ञान युग के पाठक की विचारणा को प्रबुद्ध करने और चेतना को जागरण का आह्वान देने की पर्याप्त सामग्री वर्तमान है।

जहाँ तक विज्ञान युग के पाठक की रूचि का प्रश्न है यह पहले निवेदन किया जा चुका है कि काव्य के प्रति अरूचि कभी किसी को नहीं; क्योंकि काव्य का सम्बन्ध मानव के शाश्वत मनोभावों से है। प्रेम, करुणा, ममत्व, प्रकृति के प्रति ही भाव-संवेदना के वे उपकरण हैं जो मानव की आत्मपिपासा की परितृप्ति के कारण काव्यहेतु बनते हैं। रस-निर्वाह, जिसे महाकाव्य के अनिवार्य लक्षणों में स्वीकृत किया गया है, वास्तविक आनन्द का विधाता है। यही अन्तरंग की बात है।

अनेक लेखकों और समालोचकों ने उपन्यास को गद्य-युग में महाकाव्य का पर्याय माना है। गद्यात्मक विधाओं में आकार-प्रकार एवं लोकप्रियता की दृष्टि से उपन्यास भले ही उत्कृष्ट साहित्य रूप हो सकता है किन्तु यह कहने में मैं निःशंक हूँ कि वह महाकाव्य की समता तो क्या, समता की पहुँच की सीढ़ियों को भी स्पर्श नहीं कर पाया है। इसका मूल कारण वही है जिसे कतिपय समालोचक महाकाव्य की त्रुटियाँ कहते हैं अर्थात् स्वरूप-निर्माण या रचना-शिल्प के मानदण्ड। उपन्यास के रचना-शिल्प का निश्चय न होने के कारण इस कोटि के उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं जिनका निर्धारित लक्ष्य, साहित्य-शिल्प अथवा विनियोजित विचार तत्त्व तो दूर रहा, आकार-प्रकार, विषय-विधान, प्रतिपाद्य और प्रयोजन सभी अनिश्चित है। जहाँ महाकाव्य समग्र जीवन का

चित्र है, वहाँ उपन्यास एक वर्ष, एक दिन की घटना का भी चित्रण नहीं। उसके कालक्रम, घटना-विनियोजन, कैनवास, सभी में अनिश्चय की स्थिति चल रही है।

आज का संघर्ष युग महाकाव्य-सृजन और पाठन, दोनों ही दृष्टियों से अनुकूल नहीं। आज के कवि की प्रतिभा अन्तर्मुखी और व्यक्तिनिष्ठ हो गयी है। इस विषय में कविवर दिनकर के ये शब्द उल्लेखनीय हैं- “अगर परस्पर विरोधी भावों का आक्रमण कवि को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दे सकता है, तो उसका समय आज है। अगर महाकाव्य की रचना का समय, वह युग होता है, जहाँ प्रश्नों की विभिन्न धाराएँ अपना समाधान पाने के लिए किसी समुद्र की खोज में वेग से दौड़ती हैं, तो वह समय आज हुआ है। .. यह संस्कृति के बदलने का समय है, यह परम्पराओं के परिवर्तन की वेला है... क्या महाकाव्य के लिए इससे भी और उपयुक्त समय चाहिए और क्या प्राचीन एवं मध्यकालीन नाटकों तथा महाकाव्यों में हम मानव चरित्र के भीतर जिस द्वन्द्व एवं संघर्ष का प्रतिबिम्ब देखते हैं, वह आज के व्यक्ति एवं समाज में कुछ कम है? मनुष्य आज जिन शंकाओं और द्वन्द्वों से ग्रस्त है, उन्हें अगर वह काव्य के किसी एक ही दर्पण खण्ड में देख पाये तो वह स्वयं चीत्कार कर उठेगा।”¹⁶

दिनकरजी का यह कथन सर्वथा सत्य है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आधुनिक युग में, महाकाव्य-रचना की दृष्टि से, जिसका समारम्भ हरिऔधजी के प्रियप्रवास से माना जाता है, अनेक महाकाव्य लिखे जा रहे हैं।

डॉ. सत्यकार वर्मा के शब्दों में- “‘कुरुक्षेत्र’ के बाद आनेवाला यह महाकाव्य सच्चे अर्थों में केवल महाकाव्य ही नहीं, बल्कि कवि की

दार्शनिक, सांस्कृतिक, कवित्वमय, धर्म सम्बन्धी और रचनात्मक चेतना का सबल और सतर्क प्रमाण भी है। यह अकेला काव्य ही कवि की सम्पूर्ण चेतना और शक्ति का प्रतीक कहा जा सकता है। कवि का जो जीवन-दर्शन ‘हुँकार’ से जागा और जिसकी पूर्णता ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ में हुई, उसी का केन्द्र-बिन्दु यह ‘रश्मिरथी’ है। .. इसमें मानवतावाद का एक ऐसा ज्वलन्त सत्य केन्द्र-बिन्दु के रूप में प्रमुख होकर चला है, जिसने उसे विचारक कवि और दार्शनिक से ऊपर उठाकर महानतम मानवतावादी सिद्ध किया है।”¹⁷ सच तो यह है कि ‘रश्मिरथी’ के कवि ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक ओर परम्परापोषित एवं जर्जरित रूढ़िवादी मान्यताओं का खण्डन किया है तो दूसरी ओर युग-सापेक्ष प्रगतिशील जीवन-मूल्यों की प्रस्थापना पर बल भी दिया है। उसने सामाजिक अन्याय के कारण उच्च कुल की झूठी मान-मर्यादा और जातिवाद के दम्भ की भर्त्सना की है; किन्तु श्रम, पुरुषार्थ, तपस्या, दान, मैत्री, सत्व, शील आदि मानवीय गुणों (जीवन-मूल्यों) की महत्ता को सराहा और स्वीकारा है। काव्यारम्भ में ही कृपाचार्य के जाति-विषयक प्रश्न पूछने पर कर्ण ने जो उत्तर दिया है, उसमें तथाकथित उच्चकुलीन मान-मर्यादा एवं जातिवाद का विखण्डन किया गया है:-

“जाति, जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाषण्ड, मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड। पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर, जाति-जाति का शोर मचाते केवल कायर क्रूर। बड़े वंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम? नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है नहीं वंश धन धाम।”¹⁸

काव्य के चतुर्थ सर्ग में देवराज इन्द्र से वार्तालाप करते हुए कर्ण ने कहा है कि- ‘एक नया सन्देश विश्व के हित वह भी लाया है।’¹⁹

और वह सन्देश है कर्तव्यपरायण एवं पुरुषार्थी बनकर सत्यपथ पर बढ़ते रहना। जीवन की जय इसी कर्तव्यपालन में निहित है। पुरुषार्थ के बल पर पुरुष नियति के भाल पर पाँव रखकर चल सकता है। चाहे विश्व रिपु हो जाय, धर्म दगा दे और पुण्य ज्वाला बरसाये, किन्तु मनुष्य को सत्यपथ से विचलित न होना चाहिए। कर्तव्यपरायणता की यह शक्ति किसी वंश या कुल की धरोहर नहीं, वरन् वह वीर पुरुषों के पृथुल वक्षस्थल में रहती है।²⁰ वंशगत उच्चता और कुलीनता के नाम पर शताब्दियों से मानवता का जो तिरस्कार किया जाता रहा है, 'रश्मिर्थी' के कवि ने उसका जोरदार शब्दों में प्रतिकार किया है। इसीलिए काव्य का नायक कर्ण उनका आदर्श बनकर अवतरित हुआ है जिन्हें कुल-गौरव की प्रताड़ना सहनी पड़ी है, नीचवंशजन्मा कहकर जग ने जिसे धिक्कारा है और समाज की विषमता-वह्य से जो विद्रग्ध है। कर्ण के शब्दों में-

“मैं उनका, आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा, नीचवंशजन्मा कहकर जिनको जग धिक्कारेगा। मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे, पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे। मैं उनका आदर्श, किन्तु, जो तनिक न घबरायेंगे, निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे। सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा, धर्म हेतु, धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा।”²¹

अस्तु, निष्कर्षतः 'रश्मिर्थी' एवं उनके अन्य काव्य-ग्रंथ काव्य का उद्देश्य और सन्देश मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित हैं।

संदर्भ ग्रन्थ:-

1. डॉ. शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, अध्याय 3

2. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 868
3. वही, पृ. 868
4. डॉ. शकुन्तला दुबे, काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ. 74
5. "A certain epic tradition expired in eighteenth century the possibility of epic writing in a different tradition was shout out. What happened in 18th century (if not in the second half of the seventeenth) was this hip had become so complicated, so much has been added to the stock of human learning, there was so much ecumenical freedom to exchange ideas, that the epic spanning a total society, like Home's or Dante's became impossible. Any great work of literature, however ambitious of universality, was forced to be in some degree specialist. Now the speciality that turned out most propitious for the epic was middle class novel that began to flourish in the 18th century... By the nineteenth century, the real course of the epic had forsaken the tradition for the novel."
6. (1) प्रियप्रवास (2) साकेत (3) कामायनी (4) वैदही-वनवास (5) कृष्णायन (6) साकेत-सन्त (7) सिद्धार्थ (8) दैत्यवंश (9) नूरजहाँ (10) नलनरेश (11) अंगराज (12) वर्द्धमान (13) जयभारत (14) पार्वती (15) रश्मिर्थी (16) मीरा (17) एकलव्य (18) उर्मिला (19) तारक-वध (20) सेनापति कर्ण (21) कुरुक्षेत्र (22) हल्दीघाटी (23) आर्यावर्त (24) विक्रमादित्य (25) जन-नायक (26) महामानव (27) जगदालोक (28) जौहर (29) देवार्चन (30) दमयन्ती (31)

- उर्वशी (32) सारथी (33) प्रेमचन्द (34) श्रीरामचन्द्रोदय (35) रामचरित चिन्तामणि (36) कृष्णचरित चिन्तामणि (37) झाँसी की रानी (38) अनंग (39) रामराज्य (40) विश्वज्योति बापू... आदि।
7. तुलसीदास, तृतीय संस्करण, पृ. 370
8. डॉ. शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ. 4
9. "The epic-highly developed form of art could not have come to birth, save for cruder poems it took up and transformed, and these were, in turn, more finely wrought than the earliest narratives and lyrics of men in the infancy of society."- N.M. Dixon, *English Epic and Heroic Poetry*, p. 27.
10. प्रो. आनन्दनारायण शर्मा का 'महाकाव्य : स्वरूप और सम्भावनाएँ' शीर्षक लेख, सरस्वती संवाद, अगस्त-सितम्बर 1956, पृ. 45-46
11. उपरिवत्
12. डॉ. देवराज उपाध्याय प्रबन्धकाव्य, रोमांस और उपन्यास नामक लेख, आलोचना, उपन्यास विशेषांक।
13. दिनकर, अर्द्धनारीश्वर, पृ. 47
14. "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings."
15. झाँझी की रानी, मीरा, हल्दीघाटी, जौहर, महामानव, जगदालोक, युगद्रष्टा प्रेमचन्द आदि महाकाव्य।
16. दिनकर, अर्द्धनारीश्वर, महाकाव्य की वेला नामक लेख, पृ. 50-52
17. डॉ. सत्यकाम, वर्मा, जनकवि दिनकर, पृ. 63
18. रश्मिरथी, प्रथम सर्ग, पृ. 4, 5, 7
19. वही, चतुर्थ सर्ग, पृ. 72
20. वही, पृ. 73
21. रश्मिरथी, चतुर्थ सर्ग, पृ. 73-74

-डॉ. पंडित विनय कुमार
एम.ए. हिन्दी
पी.एच.डी. डी. लिट.
(पटना वि.वि.)

प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ कौटिल्य के विश्वविश्रुत अर्थशास्त्र का यह श्लोक है -

मत्स्या यथान्तःसलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ।

युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्याः धनमाददानाः । ।

यानी, जिस प्रकार यह जानना कठिन है कि मछली कब जल पीती है और कब नहीं इसी प्रकार यह तय करना मुश्किल है कि सरकारी अधिकारी कब धन का गवन करते हैं; रिश्वत लेते हैं।

भारत में सौर उपासना की प्राचीनता

श्री पवन कुमार

हिन्दू देवमण्डल में सूर्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी कल्पना “प्रकाश जगत् के स्वामी” तथा “जगत् के चक्षु” के रूप में की गई है। (सूर्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च) भारत में सूर्य पूजा की प्राचीनता के संदर्भ में विद्वानों ने इसे प्रागैतिहासिक काल से आरम्भ माना है। प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति के कुछ ऐतिहासिक चिह्न जैसे चक्र, स्वस्तिक, आदि को सूर्य आराधना से जोड़ कर देखा गया है। हडप्पा संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों की खुदाईयों से भी चक्र, स्वस्तिक, किरण मण्डल खुदा हुआ ठीकरा प्राप्त हुआ है। जिसे विद्वानों ने सूर्यपूजा से सम्बद्ध माना। इसके आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि सूर्य प्राकृतिक शक्तियों में सर्वप्रथम हुए जिसे देवत्व प्रदान किया गया था।

वैदिक काल में सूर्य पूजा का पर्याप्त दृष्टान्त प्राप्त होता है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में पूजा का पर्याप्त दृष्टान्त प्राप्त होता है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का प्रशस्त सावित्री मंत्र जो आज भी करोड़ों हिन्दुओं की दैनिक प्रार्थना का अनिवार्य अंग है वह सूर्य की महत्ता को ही प्रतिपादित करता है। ऋग्वेद में गायत्री मंत्र के

अलावे सूर्य से सम्बन्धित पाँच अन्य सूक्त भी प्राप्त होते हैं। यही नहीं अन्य देवताओं के सूक्तों में भी सूर्य के प्रयुक्त मन्त्रों की संख्या इक्कीस है। ऋग्वेद में सूर्य की सविता, पूजा, विष्णु, मित्र, भग, विवस्वान्, अर्यमन्, अज, एकपद, वृषाकपि, केशिन् एवं वैश्वानर आदि विविध रूपों में स्तुति की गयी है। ये स्तुति यह दर्शाते हैं कि भारत में अवश्य ही सूर्य आराधना ऋग्वैदिक काल से पूर्व ही अपने परिवर्द्धित रूप में आ चुकी थी क्योंकि सूर्य उपासना के बीज अगर भारत के चिर प्राचीन प्राक् ऐतिहासिक युग में नहीं छिपा होता तो इसका पल्लवन वैदिक काल में देखने को नहीं मिलता।

ऋग्वैदिक मण्डल में सूर्य द्युस्थानीय (आकाश) प्रमुख देवता है। यहाँ हम सूर्य की पूजा पाँच रूपों में पाते हैं।

- (1) **सूर्य**- यह दिन के समय प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला रूप था। यह आकाश में चमकता हुआ, आता था तथा अन्धकार को दूर भगाता था।
- (2) **सविता**- प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का उपास्य देवता ‘सविता’ वास्तव में सूर्य की प्रेरक

सूर्य हम भारतीयों के प्राचीनतम उपास्य देव रहे हैं। सूर्योपासना का प्रारम्भ कब से हुआ, सूर्य के प्राचीन मन्दिर कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं। और किन-किन प्रसिद्ध राजाओं ने सूर्य को अपने परम आराध्य देव के रूप में स्वीकारा, इन सब का शास्त्र-सम्मत विशद वर्णन प्रस्तुत आलेख में परितोषपूर्ण हुआ है। मग (शाकद्वीपीय) ब्राह्मण सूर्य देवता के खास उपासक हैं। ये कहाँ से आये और किनके द्वारा लाये गये, इस आलेख का सर्वाधिक श्लाघ्य तथ्य है।

सत्ता थी। सविता के स्वरूप एवं इसके कार्यों पर विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि सविता के स्वरूप में सूर्य का व्यक्त (दिन में दिखाई देनेवाला) तथा अव्यक्त (रात्रि में दिखाई देनेवाला) दोनों रूपों का समावेश था।

- (3) मित्र- शाब्दिक अर्थ “सुदृढ या सहायक” यह सूर्य की रक्षण शक्ति का प्रतिनिधि है। पारसीक ग्रन्थों में इसी को ‘मित्र’ कहा गया है। इसकी पूजा ईरान में होती थी।
- (4) पूषन्- ‘पूषन्’ का अर्थ पोषण करने वाला होता है। अर्थात् यह सूर्य की पोषक शक्ति था। ऋग्वेद के आठ सूक्तों में इसकी स्तुति की गई है। इसकी आकृति दाढ़ी एवं जटाओं से युक्त है। इसके रथ का वाहन बकरा है। इसे ‘पशुओं का रक्षक’ कहा गया। उत्तर वैदिक काल में पूषन को ‘शूद्रों का देवता’ बना दिया गया।
- (5) विष्णु- शब्द का अर्थ ‘व्यापक’ होता है। यह सूर्य का क्रियाशील रूप एवं व्यापक रूप का प्रतिनिधि है। इसके लिए ‘उरुक्रम’ (विशाल पत्र) उरुगाय (विशाल गतिवाला) विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

कालान्तर में विष्णु की प्रतिष्ठा एक स्वतंत्र देवता के रूप में हो गयी। जो वैष्णव या स्मार्त्तो का प्रमुख उपास्य देता माना गया लेकिन यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि विष्णु की ही प्रतिष्ठा भले ही स्वतंत्र देवता के तौर पर हो गयी थी परन्तु उसके स्तुति प्रकरण में सूर्य सम्बन्धी विशेषण प्रयुक्त किये जाते हैं। उदाहरण स्वरूप विष्णु की प्रशस्त स्तुति महाभारतन्तर्गत श्री विष्णुसहस्रनाम में-

“वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः”
(वृषाकपि)

“मरीचिर्दमनो”

“आदित्यो, ज्योतिरादित्यः”

“कुण्डली, चक्री, रिपिविष्ट” आदि।

ऋग्वेद के अनुसार सूर्य को देवों का सेना प्रमुख चराचर आत्मा, तथा मनुष्यों के सत्-असत् कर्मों का द्रष्टा माना गया है।

उत्वेति सुभणो विश्व चक्षाः साधारणः
सूर्यो मानुषाणाम्।

चतुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मैव चः सम्य
वित्यक्त तमांसि॥ (ऋग्वेद ७.६३.१)

वैदिक काल में सूर्य प्रतिमा का आविर्भाव नहीं हो सका था। महाभारत एवं रामायण में सूर्य के मानवीय स्वरूप का वर्णन मिलता है। उत्तर वैदिक काल में संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्य एवं धर्म सूत्रों में सूर्य पूजा का उल्लेख पाते हैं।

“य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो
दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रण रश्वात्सर्व
एवं सुवर्णः (छान्दोग्योपनिषद्)

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित मधु विद्या नामक जिस रहस्यमयी आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन हुआ है वह वास्तव में सविता की साधना ही है।

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरैव
तिरश्चीनव शोऽन्तरिक्षमपूणो मरीचयः पुत्राः॥
(द.उ. 3.1.1)

“ॐ यह निश्चय ही देवताओं का मधु है। द्युलोक ही वह तिरछा बाँस है जिस पर यह मधु लटका है। अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें मधुमक्खियों के बच्चों के समान हैं।”

सूर्यपूजा का यही स्वरूप मौर्य काल में भी रहा। विदेशी शासकों में कुषाण शासक कनिष्क के सिक्के पर ‘मिईरो’ शब्द का जिक्र बार-बार आता है। जिसका अर्थ ‘मिहिरो’ मित्र या सूर्य

निकाला जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कनिष्क नैष्ठिक बौद्ध होने के साथ-साथ सूर्य का नैष्ठिक भक्त भी था।

गुप्तकाल ब्राह्मण धर्म की उन्नति का काल था। सूर्यपूजा के प्रमाण हमें अभिलेख एवं पुस्तकों के द्वारा प्राप्त होते हैं। कुमार गुप्तकालीन मन्दसोर लेख से पता चलता है कि “दशपुर की तन्तुवाय श्रेणी (रेशम वस्त्र बुनकरों) ने शिल्प से प्राप्त धन से सूर्य का मन्दिर बनवाया था। तथा क्षतिग्रस्त होने पर पुनः उसकी मरम्मत करवायी थी।” स्कन्दगुप्त कालीन इन्दौर ताम्रपत्र (गुप्त संवत् 146) से पता चलता है कि क्षत्रिय शिरोमणि ‘अचल वर्मा एवं भृकंठ सिंह’ ने इन्द्रपुर (बुलन्दशहर स्थित इन्दौर) में सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।

ईसा की पहली शताब्दी से हम सूर्य की मूर्तिपूजा में विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप कुछ परिवर्तन पाते हैं। प्रमुख इतिहासकार एवं विद्वान् आर.जी. भण्डारकर ने भविष्य पुराण की कथा के माध्यम से इसका संदर्भ प्रस्तुत किया है। इस कथा के अनुसार कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग हो जाने के कारण इसके निवारणार्थ शाकद्वीपीय ‘मग ब्राह्मण’ को सूर्य की मूर्तिपूजा के लिए आमंत्रित किया गया। क्योंकि सूर्यबिम्ब की पूजा के स्थान पर उनकी मानवाकृति मूर्ति की पूजा भारत में अप्रचलित थी। अतः शाकद्वीप के इन ब्राह्मणों को सूर्य की मूर्तिपूजा का पुरोहित नियुक्त किया गया। गोविन्दपुर (गया) (1137-38 ई.) से प्राप्त लेख में इसी कथा का उद्धरण प्राप्त होता है। यहाँ मग ब्राह्मणों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इतिहासकारों का मत है कि शाकद्वीपीय ब्राह्मण वास्तव में ईरान से आए थे। क्योंकि ईरान में पारसीक धर्म की अवेस्ता में सूर्य की ‘मित्र’ रूप में आराधना की जाती थी। आज भारतीय समाज में शाकद्वीपीय ब्राह्मण उन्हीं ईरान मूल के हैं।

ये शाकद्वीपी ब्राह्मण मूलतः सूर्योपासक थे। आज भी शाकद्वीपी ब्राह्मण पूजा-पाठ में सूर्य की पूजा को विशेष वरीयता देते हैं।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी चन्द्रभागा नदी के तट पर कृष्ण पुत्र साम्ब द्वारा सूर्य मन्दिर बनवाये जाने का विवरण दिया है। वाराह पुराण से पता चलता है कि साम्ब ने मथुरा में सूर्य की मूर्ति स्थापित करवायी थी। बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उत्तर भारत में खासकर पूर्वांचल (बिहार तथा पूर्वी उ.प्र.) में सूर्य पूजा शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के प्रभाव से अपने विशिष्ट रूप में जन-जन से लोकप्रिय हो गयी थी। इसी का प्रचलित रूप “छठ पूजा” है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम भोजक/मग/ईरानी/शाकद्वीपी ब्राह्मण को ‘छठपूजा’ को प्रारम्भ करनेवाला मान सकते हैं।

इस मत का समर्थन बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तर भी करता है। अलबरुनी ने भी अपने विवरण में मग ब्राह्मणों को सूर्य प्रतिमा का सच्चा पुजारी कहा है।

हूण नरेश मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि वहाँ की पहाड़ी पर मातृचेत नामक सूर्य मन्दिर बनवाया था। हर्षवर्द्धन के पूर्वज तो सूर्य के आराधक ही थे। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन ने ‘परमसौर’ की उपाधि धारण की थी। बाणभट्ट के विवरण से पता चलता है कि वह प्रातः सूर्य को अर्घ्यदान कर अनेको बार आदित्यहृदयस्तोत्र की आवृत्ति से सूर्य स्तवन किया करता था। हर्ष स्वयं बौद्ध होते हुए भी प्रयाग के महामोक्षपरिषद् में बुद्ध एवं शिव के संग सूर्य की पूजा प्रतिमा बनाकर की थी। ह्वेनसांग लिखता है ‘मूलस्थानपुर (मुल्तान) में सूर्य का प्रसिद्ध मन्दिर था जिसकी मूर्ति सोने की बनी थी।

उसमें अलौकिक शक्ति थी। सम्पूर्ण आर्यावर्त के राजा एवं सरदार वहाँ जाते तथा मूर्ति पर बहुमूल्य पदार्थ चढ़ाते थे।”

राजपूत काल में भी उत्तर भारत में सूर्य पूजा लोकप्रिय रही। कुछ प्रतिहार शासक सूर्य उपासक थे। गहड़वालकालीन कन्नौज के दानपत्र में सूर्य मन्दिर का उल्लेख है। चौहान शासक चण्डमहासेन सूर्यभक्त था। पूर्व एवं मध्य काल में सौर उपासना के प्रमुख केन्द्र थे- गुजरात का 'मोडेहरा', राजस्थान का 'ओसिया' तथा 'सिरोही', उड़ीसा में कोर्णाक (नरसिंहदेव के समय की कई सूर्य मूर्तियाँ बंगाल से मिलती हैं। सेन वंश का केशव सेन सूर्यभक्त या उसकी उपाधि 'परमसौर' थी। कश्मीरी नरेश ललिता दिव्य मुक्तापीड द्वारा निर्मित प्रसिद्ध मार्त्तण्ड मन्दिर इसका उदाहरण है।

दक्षिण भारत में एक पात्र सूर्य मन्दिर तंजौर में मिलता है इससे पता चलता है कि सूर्य आराधना उत्तर भारत में ही अधिक प्रचलित था।

प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ से पता चलता है कि पश्चिमी भारत खासकर गुजरात में जैनियों के द्वारा सूर्य की आराधना की जाती थी। मध्यकाल में अबुल फलज के दृष्टान्त से पता चलता है कि मुगल बादशाह अकबर ने सम्भवतः पारसी धर्मगुरु दस्तूरजी मेहरजी राजा के प्रभाव से सूर्य की पूजा करना आरम्भ किया। सूर्य के प्रतीक अग्नि को पूज्य बनाने के लिए अपने महल में 24 घंटे अग्नि प्रज्वलित रखने की व्यवस्था भी की। साथ-ही-साथ हिन्दू प्रभाव से अपनी दिनचर्या का आरम्भ सूर्य की आराधना से ही किया करता था। अकबर सूर्यसहस्रनामावलि का प्रतिदिन पाठ किया करता था। अकबर की सूर्य के प्रति निष्ठा उसके द्वारा जारी किये गए उन सिक्कों से भी होता है जिस पर सूर्य की प्रशस्ति के पद्य फारसी में अंकित थे। अकबर ने अपने साम्राज्य में सौर कलेण्डर पर गणना की विधि अपनाई थी।

प्राचीन ग्रन्थों में सूर्य का स्वरूप दो रूपों में प्राप्त होता है। प्रथम (उदीच्य) या उत्तरी, दक्षिणी। उत्तरी वेशभूषा विदेशी तत्त्वों से प्रभावित है। इसमें सूर्य का शरीर वक्षस्थल से पैरों तक ढँका है। उनके सिर पर मुकुट, हाथ में कमल, पुष्प, कानो में कुण्डल, गले में हार तथा पैरो में जूते दिखाये जाते हैं। ये वेशभूषा निश्चित रूप से कुषाणकालीन प्रतिमा के स्वरूप से प्रभावित लगता है जो गांधार कला के प्रभाव से आया है। सूर्य का दक्षिणी स्वरूप कुछ भिन्न है। इसमें सूर्य के शरीर को अनावृत्त प्रदर्शित करने पर बल दिया गया है। बताया गया है कि सूर्य के हाथों में दोनों कमल तथा मुट्टियाँ बंधी एवं कन्धों तक उठी होनी चाहिए। शरीर उत्तरीय से आवृत्त हो, कमल पर खड़ा हो, सात घोड़ों का रथ हो उषा-प्रत्यूषा बगल में खड़ी हो।

सूर्य पूजा की परम्परा भारत में सदा से विद्यमान रही है तथा आज भी विभिन्न नाम, रूपों में यह प्रचलित ही है। छठ-इसका प्रशस्त रूप है। आज भी अधिकांश नैष्ठिक हिन्दू स्नान के बाद अपनी न्यूनतम आध्यात्मिक साधना में गायत्री जप को प्रमुखता से स्थान देते हैं। इसके जप का तथा इस मन्त्र की पवित्रता का वही स्थान है जो ईसाई में 'sermon on the Mount' का है।

पूर्वाचल में छठ पूजा का आयोजन हर्षोल्लास से किया जाता है। अब तो इसका प्रसार अन्य क्षेत्रों में भी हो रहा है। अन्य क्षेत्र की महिलाएँ भी पूर्वाञ्चल के भाइयों से सम्पर्क के फलस्वरूप इसे अपनाकर श्रद्धापूर्वक छठव्रत का पालन करती हैं।

शोध छात्र,

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व
गौतम नगर, जनता रोड, पटना



सूर्य की विभिन्न प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख

सुप्रभेदागम के 49वें अध्याय के अनुसार सूर्य की दो भुजाएँ होनी चाहिए और उन्हें रक्तकमल के आसन पर स्थित दिखाना चाहिए-

द्विभुजं पद्महस्तं तु रक्तवर्णं सुरूपकम्।
करणडमुकुटोपेतं सर्वाभरणभूषितम्॥
X X X

रक्तपद्मासनस्थं हि आसनं तत्र कल्पयेत्।

मत्स्य-पुराण में सूर्य-प्रतिमा को चतुर्भुज बतलाया गया है-

रविः कार्यः शुभश्मश्रुः सिन्दूरारुणसुप्रभः।
आपीच्यवेषस्वाकारः सर्वाभरणभूषितः॥
चर्तुर्बाहुर्महातेजाः कवचेनाभिसंवृतः।
कर्तव्या रशना चास्य पानीयाङ्गेति संज्ञिताः।

साम्ब-पुराण में सूर्य को द्विभुज बतलाया गया है किन्तु मत्स्य-पुराण में वर्णित 'पद्म' के साथ 'काञ्चनीमाला' का भी उल्लेख है-

कराभ्यां काञ्चनीं मालां प्रोद्धन् ससरोरुहाम्।
एवं लक्षणसंयुक्तां कारयेदीप्सितप्रदाम्॥ (सा.पु.-31.11)

अग्नि-पुराण में केवल दो पद्मों का उल्लेख है-

सप्तशवे सैकचक्रे रथे सूर्यो द्विपद्मधृक्। (अ.पु. 51.1)

दूसरी ओर कुषाणकाल की सूर्य प्रतिमा में दाहिने हाथ में कमल की कली एवं बायें हाथ में छुरी दिखायी गयी है। यह मूर्ति मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित है। इस मूर्ति का उल्लेख काश्यप-संहिता में हुआ है, जिसे भट्ट नीलोत्पल में 'बृहत्संहिता' की टीका में उद्धृत किया है-

आदित्यस्तरुणस्त्रग्वी कवचीखड्गभृत्तथा।
तेजस्वी पङ्कजकरः षड्वर्गश्च किरीटवान्॥

सूर्य मूर्तियों की इन विविधताओं का संग्रह कर "विश्वकर्मशास्त्र" में द्वादश आदित्य के साथ समन्वय स्थापित कर दिया गया है।

-भवनाथ झा

विस्मयकारी है स्वप्नों का संसार

श्रीमती सपना

स्वप्नों की विशेषता ही उनकी विस्मयकारिता है। सामान्य लोगों के स्वप्न सच भी होते हैं झूठ भी। पर महात्माओं, पुण्यात्माओं के स्वप्न कभी-कभी ऐसी बातें कह जाते हैं जिनमें रंच भर भी मिथ्यात्व नहीं होता। प्रस्तुत निबन्ध में भरत, वैदेही, त्रिजटा आदि के स्वप्नों का विवेचन कर स्पष्ट किया गया है कि इनके स्वप्न न केवल सत्य साबित हुए हैं बल्कि कुछ ऐसी राहें भी दिखा गये हैं जिनका अनुस्मरण एवं अनुगमन अत्यन्त हितकारी साबित होते हैं।

रामचरितमानस में तीन स्थलों पर स्वप्न कथाओं का मुख्य रूप से वर्णन आया है। ऊपर विचार करने से पूर्व यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गर्द जमे हुए धुंधले दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार दुर्वासना युक्त विकारी मन पर स्वप्न भी स्पष्ट रूप में अंकित नहीं होता। सच्चे, सरल और पवित्र भगवद्भक्त का मन शुद्ध और निर्मल होता है, इसीलिए उसके मन पर सच्ची घटनाएँ ही प्रतिबिम्ब होती हैं। तो आइए भरत-वैदेही और त्रिजटा के स्वप्नों का विश्लेषण करें।

पहली कथा भरतजी के स्वप्न की है। भगवान् राम के साथ सीता व लक्ष्मणजी अयोध्या छोड़कर वनवास को चले जाते हैं। उनके वियोग में परिजन और पुरजन दीन-मलिन और व्याकुल हैं। दशरथजी इस वियोग की असहनीय पीड़ा से अपने प्राणत्याग करते हैं और तब समस्त अयोध्यापुरी में हाहाकार मच जाता है। अपने ननिहाल में रह रहे भरतजी के मन पर इसकी

स्वप्निल छाया पड़ती है, जिसका वर्णन तुलसीदास जी इस प्रकार करते हैं। यथा-

अनरथु अवध अंरभेउ जब ते।

कुसगुन होहिं भरत कहु तब ते।

देखहि राति भयानक सपना।

जाणि करहिं कहु कोटि कलपना॥

मानहिं हृदय महेश मनाई।

कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

रहि विधि सोयत भरत

मन धावन पहुँचे आई।

गुर अनुशासन आन सुनि चले गनेसु मनाई॥

दूसरी कथा जानकीजी के उस समय के स्वप्न की है, जब भगवान राम के चरण-कमलों का दर्शन करने के निमित्त समाज सहित भरत अयोध्या से पैदल चलकर चित्रकूट के पास पहुँचे और तब वैदेही के शुद्ध सात्त्विक मन पर समस्त सत्य बातें स्वप्न स्वरूप होकर प्रतिबिम्बित होती हैं। अपने प्राणनाथ श्रीराम को वे अपना स्वप्न ज्यों-का-त्यों सुना देती है। यथा-

उहाँ राम रजनी अवसेषा।
जागे सीयँ सपन अस देखा।
सहित समीप भरतु जनु आए।
नाथ वियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी।
देखी साजु आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जब लोचन।
भए सोच बस सोच विमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई।
कठिन कुचाई सुनाइहि नेई।
अज कहिँ बंधु समेत नहाने।
पूणि पुरारि साधु सनमाने॥

पहले भरतजी और वैदेही के स्वप्नों पर गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भरतजी के स्वप्न भयानक हैं, इसलिए जो कोटि भाँति की कल्पना वे करते हैं, सो स्वाभाविक ही है।

सीता का स्वप्न अति स्पष्ट है, किन्तु कठिन और अनचाहा-सुनने में अप्रिय भी है। सीताजी के स्वप्न में भरतजी की ओर से चिन्तित होने की कोई बात भी नहीं आती है। हाँ, आगे चलकर और इसका तुरंत समाधान भी दिखाई पड़ता है।

समाधान तब भा यह जाने।

भरतु कहे महुँ साधु सयाने॥

वैदेही के स्वप्न में तो 'देखी सासु आन अनुहारी' सुनकर सोच-विमोचन प्रभु सोच-वश होते हैं, क्योंकि इसमें माताओं के अमंगल के अन्तर्गत पिता के अमंगल की आशंका उठती है। अयोध्या छोड़ते समय से राम को सब माताओं के और पिता के सुख का ध्यान सदैव बना रहा है।

गुरु वसिष्ठजी के द्वार पर वन-गमन के समय राम का दृश्य देखिये-

बारहिँ बार जोरि जुग पानी।

कहत रामु सब सन मृदु बानी॥

सोइ सब भाँति मोर हितकारी।

जेहि तें रहै भुआल सुखारी॥

मातु सकल मोरे विरहँ जेहिँ न होहिँ दुख दीन।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रवीन॥
फिर गंगातट पर सुमन्त्रजी से कहते हैं-
पितु पद गहि कहि कोटि
नति विनय करब कर जोरि।
चिंता कबनिहु कै तात करिअ जनि मोरि॥
तुम पुनि पितु सम अति हित मोरे।
विनती करउँ तात कर जोरे॥
सब विधि सोइ करतव्य तुम्हारे।
दुख न पाप पितु सोच हमारे॥

अयोध्या लौटने पर सुमन्त्रजी ने इस संदेश को बड़े ही मार्मिक भाव में दशरथजी को सुनाया है। तब माता-पिता के अमंगलसूचक स्वप्न को सुनकर रामजी का सोचवश होना स्वाभाविक ही है।

यूँ तो धरती पर सम्पूर्ण धर्मों की धुरी को धारण करनेवाले भरतजी और धर्म-मर्यादा की रक्षा करनेवाले रामजी इन स्वप्नों के परिहार के लिये देवाधिदेव शंकरजी की स्तुति करते हैं। केवल इतना है कि ननिहाल में कैकयनरेश के यहाँ समस्त सामग्री और सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण भरतजी 'विप्र जेवाँइ देहिँ दिन दाना' दिन-प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन कराते तथा दान देते हैं और सिव अभिषेक करहि विधि नाना' अनेक प्रकार से शिवजी का अभिषेक करते हैं। किन्तु वैदेही स्वप्न देखती है, चित्रकूट पर्वत पर उस रात्रि में उनके आश्रम से बहुत ही थोड़ी दूरी पर समाज सहित भरतजी डेरा डाले पड़े हैं। इसलिये भगवान राम-

अस कहि बंधु समेत नहाने।

पूजि पुरारि साधु सनमाने॥

प्रातः स्नान के बाद ही 'पत्रं पुष्य तोपं यो में भक्त्या प्रयच्छति' के अनुसार शंकरजी की पूजा और साधुओं का सम्मान करते हैं। वे केवल इतना ही कर पाते हैं कि-

सनमति सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत गए।
नर धूरि खग मृग भूरि भागे विकल प्रभु आश्रम गए॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥

बस, भरत-आगमन के सब समाचार कोल-किरात आकर कहते हैं।

इन दोनों स्वप्न-कथाओं से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कभी भयावने अथवा माता-पिता, गुरु, भाई बंधुओं से सम्बन्धित बुरे स्वप्न दिखायी पड़े, तब बुद्धिजीवियों को यथाशक्ति तथा समयानुसार शिव-अभिषेक, शिव-पूजन, दान, भगवत्कथाओं का गान-श्रवण करना चाहिए। जो हो गया सो अमिट है, किन्तु पूर्ण श्रद्धा और सरल भाव व भक्ति से ये परम पवित्र धार्मिक कार्य किये जाने पर आनेवाले अमंगल का यदि पूर्णरूप से परिहार न भी होगा तो कुछ अंशों में अवश्य ही कम हो जायगा, इसमें लेशमात्र संशय नहीं है। ऋषिवर नारदजी का वचन है कि

**इच्छित फल विनु सिव अपराधे।
लहिअ न कोटि जोग जप साधे॥**

त्रिजटा राक्षसी का स्वप्न

जब वैदेही की खोज में हनुमानजी लंका जाते हैं और विभीषण की बतायी युक्ति के अनुसार अशोकवाटिका में पहुँचते हैं, तब उसी अशोक वृक्ष के पत्तों में छिपकर हनुमान् बैठ जाते हैं, जिसके नीचे वैदेही बैठी है। उसी समय रावण भी आता है और एड़ी-टेढ़ी बातें कहता है, जिनका मुँहतोड़ उत्तर सीताजी से पाकर वह क्रोधोन्मत्त हो उठता है। तब त्रिजटा अपना स्वप्न इस प्रकार सुनाती है-

**सपनें वानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दस लीला।
मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि विधि सो दच्छिन दिसि जाई।**

**लंका मनहुँ विभीषण पाई॥
नगर फिरी रघुवीर दोहाई।
तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी।
होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥
तासु वचन सुनि ते सब ठरीं।
जनकसुता के चरनन्हि परीं॥**

जिस प्रकार लंका में विभीषण, प्रहस्त, माल्यवान् आदि राक्षस भगवान् राम के चरण-कमलों में प्रेम करनेवाले मिलते हैं, उसी प्रकार वहाँ त्रिजटा राक्षसी का 'रामचरण रति' होना कोई ताज्जुब की बात नहीं।

यूँ तो त्रिजटा का स्वप्न रामचरणानुरागी होने के नाते त्रिजटा अपने स्वप्न को मंगलमय मानती है। वैदेही की सेवा करके वह अपना भला तो करती ही है, साथ ही अन्य राक्षसियों के हित की बात भी कहती है। त्रिजटा के स्वप्न में एक बात विशेष उल्लेखनीय है। वैदेही की खोज करने के लिए चलते समय हनुमानजी से भगवान् राम इतना ही कहते हैं-

**बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥**

अपने निज नाथ की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने का परिचय करते हुए माता सीता से मारुति ने भी कहा है-

**अबहि मातु में जाउँ लेवाई।
प्रभु आयस नहिं राम दोहाई॥**

तब-

**उलटि पलटि लंका सब जारी
कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥**

इस तरह उत्पात लंका में हनुमानजी ने क्यों मचाया? ऐसी जो शंका उठायी जाती है, उसका सहज ही में इस प्रकार समाधान हो जाता है- त्रिजटा अपना स्वप्न सुना रही है और अशोक

वृक्ष के पत्तों की आड़ में छिपे हनुमानजी सुन रहे हैं। सबसे पहले वह कहती है-

**सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।
सीतहि सेइ करहु हित अपना॥**

थोड़ा ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्न का ब्यौरा सुनाने के पूर्व वह इस पर जोर देती है कि सीताजी की सेवा करके अपना हित करो। बस, इतना सुनते ही हनुमान को यह समझने में देर नहीं लगती कि यह त्रिजटा राक्षसी मनसा, वाचा कर्मणा रामचरणानुरागिणी है और इसका मन स्वच्छ, पवित्र और निर्मल है। इसलिए इसका स्वप्न भी सत्य होना चाहिए। इसके बाद वह कहती है-

‘सपनें बानर लंका जारी’ बस, यह सब प्रभु की प्रेरणा से इसके मन पर प्रतिबिम्बित हुआ है और तब हनुमानजी ठीक ही निर्णय कर लेते हैं कि त्रिजटा के स्वप्न द्वारा प्रभु लंका जलाने की आज्ञा उन्हें दे रहे हैं।

त्रिजटा के स्वप्नान्तर्गत लंका जलाने की प्रभु आज्ञा के साथ एक और कारण उपस्थित हो जाता है। सीता की विरह-व्यथा देख-सुनकर हनुमानजी व्याकुल हो जाते हैं। यथा-

**निज पद नयन दिऐं मन राम पद लीन।
परम दुखी भा पवन सुत देखि जानकी दीन॥**

इतना ही नहीं,

**देखि परम विरहाकुल सीता।
सो छन कपिहि कलप सम बीता॥**

और-

**देखि परम विरहाकुल सीता।
बोला कपि मृदु वचन विनीता॥**

वैदेही के हृदय-विदारक विलाप को सुनकर हनुमानजी को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की होती है कि उन्हें धीरज किस प्रकार बँधाये। इसी कारण वे बार-बार कहते हैं-

**रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
कह कपि हृदयँ धीर धरू माता।
सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥**

इतना ही नहीं,

**निसिचर निकर पतंग सम रघुपति वान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरू जरे निसाचर जानु॥**

कछुक दिवस जननी धरू धीरा।

वैसे तो हनुमानजी अच्छी तरह से जानते हैं कि भगवान् राम अपनी सेनासहित पलक मारते ही समुद्र के इस पार लंका में आ सकते हैं, किन्तु वे हैं मर्यादापुरुषोत्तम इसलिये लौकिक मर्यादा का पालन अवश्य करेंगे और तब सम्भवतः कुछ विलम्ब हो जाय। इसलिये सीता को धैर्य देने के निमित्त त्रिजटा के स्वप्न के पहले अंश को तत्काल सत्य कर दिखाना वे अपना कर्तव्य मान लेते हैं और लंका जलाने की युक्ति भी तुरंत निकाल लेते हैं-

**सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुंदर फल रूखा॥**

और फिर लंका जलाकर चलते समय भी जनकनंदिनी जानकी को धीरज ही देते हैं।

यथा-

**जनक सुतहि समुझाई करि बहु विधि धीरजु दीन्ह।
चरण कमल सिरू नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥**

इन तीनों स्वप्नों के विवेचन व विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भरत और वैदेही के स्वप्नों में भूतकाल की घटनाएँ दृष्टिगत होती हैं और त्रिजटा का स्वप्न भविष्य का द्योतक है।

भारतवर्ष की इस पुण्यभूमि में ऐसे संत-महात्मा होते आये हैं, जिन्होंने भूतकाल की गुप्त-से-गुप्त घटनाओं का रहस्योद्घाटन किया है और भविष्य के चित्र को साक्षात् देखा है। उनमें से एक हमारे तुलसीदासजी भी हैं। इन्होंने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इस कलियुग के

धर्म का कुछ वर्णन किया है। तुलसीदास ने पाप और अवगुणों के घर इस कलिकाल में गुण भी बताया है। यथा-

सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनु बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥

और उससे उद्धार पाने के लिये सारांश में उपाय भी बताया है-

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरू जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलियुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर विस्वास॥
गाइ राम गुन गन विमल भव तर विनहिं प्रयास॥

एहिं कलि काल न साधन दूजा।

जोग जग्य जप तप व्रत पूजा॥

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि।

संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

वस्तुतः दृढ़ निष्ठा और अडिग विश्वास के साथ इस कलिकाल में भगवान् राम के गुणों का निरन्तर गान करते रहने से मनुष्यमात्र निःसन्देह स्वप्न के दुष्परिणामों से मुक्त होकर अपनी व दूसरों की भलाई करने में सहायक होगा। इतना ही नहीं, ठीक उसी प्रकार सांसारिक भ्रम का निराकरण ईश्वर-ज्ञान में है।

जनक का स्वप्न

कथा आती है कि एक बार राजा-जनक ने स्वप्न में देखा कि उनका राज्य छिन गया है और वे भूखे-प्यासे इधर-उधर भटक रहे हैं। इस बीच उन्होंने भोजन का बर्तन साफ करते हुए एक

बुढ़िया को देखकर उससे खाने की वस्तु की मांग की। बुढ़िया ने बर्तन से खिचड़ी की खुरचन निकालकर ज्यों ही राजा जनक के हाथ में दी त्यों ही एक चील उनके हाथ की खुरचन को झपटकर भाग चला। इस घटना से विह्वल होकर जनकजी इतना रोये कि उनका तकिया आँसू से भीग गया। जब उनकी नींद टूटी तब वे सोचने लगे कि यह सत्य कि वह सत्य? उन्होंने अपनी जिज्ञासा को अष्टावक्रजी के समक्ष प्रकट किया। मुनि ने कहा- राजन्, न यह सत्य न वह सत्य क्योंकि स्वप्न में आपका राज्य नहीं था। अभी राज्य है। स्वप्न में आप दुखी थे। अभी नहीं है, परन्तु दोनों अवस्थाओं में आपको अपने तन का अपने अस्तित्व का बोध- आत्मबोध एक समान मौजूद रहा। अतः आप (आत्मा) सत्य है।

सुन्दरकाण्डान्तर्गत त्रिजटा को सपना आया। बालकाण्डान्तर्गत श्रीपार्वती को सपना आया। अयोध्याकाण्डान्तर्गत भरतजी और सीताजी को सपना आया।

त्रिजटा एक तेजस्विनी संत महिला के रूप में आती है। वह महान् राम भक्त ही नहीं बल्कि विवेक की पराकाष्ठा में गोस्वामीजी के शब्दों में राम चरन रति निपुन विवेका (मा. 5.10.1)

स्वतन्त्र पत्रकार एवं वार्ताकार
आकाशवाणी केन्द्र, पटना
रुकनपुरा, पटना



विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीडनाय।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

विद्या, धन और मद ये तीनों दुर्जन और सज्जन दोनों में पाये जाते हैं लेकिन दुर्जनों की विद्या झगड़ा पैदा करती है, धन घमण्ड पैदा करता है और बल दूसरे को कष्ट देता है। इसके ठीक विपरीत सज्जनों की विद्या गरिमा बढ़ाती है, धन दान के लिए है तथा बल दुर्बलों की रक्षा के लिए है।